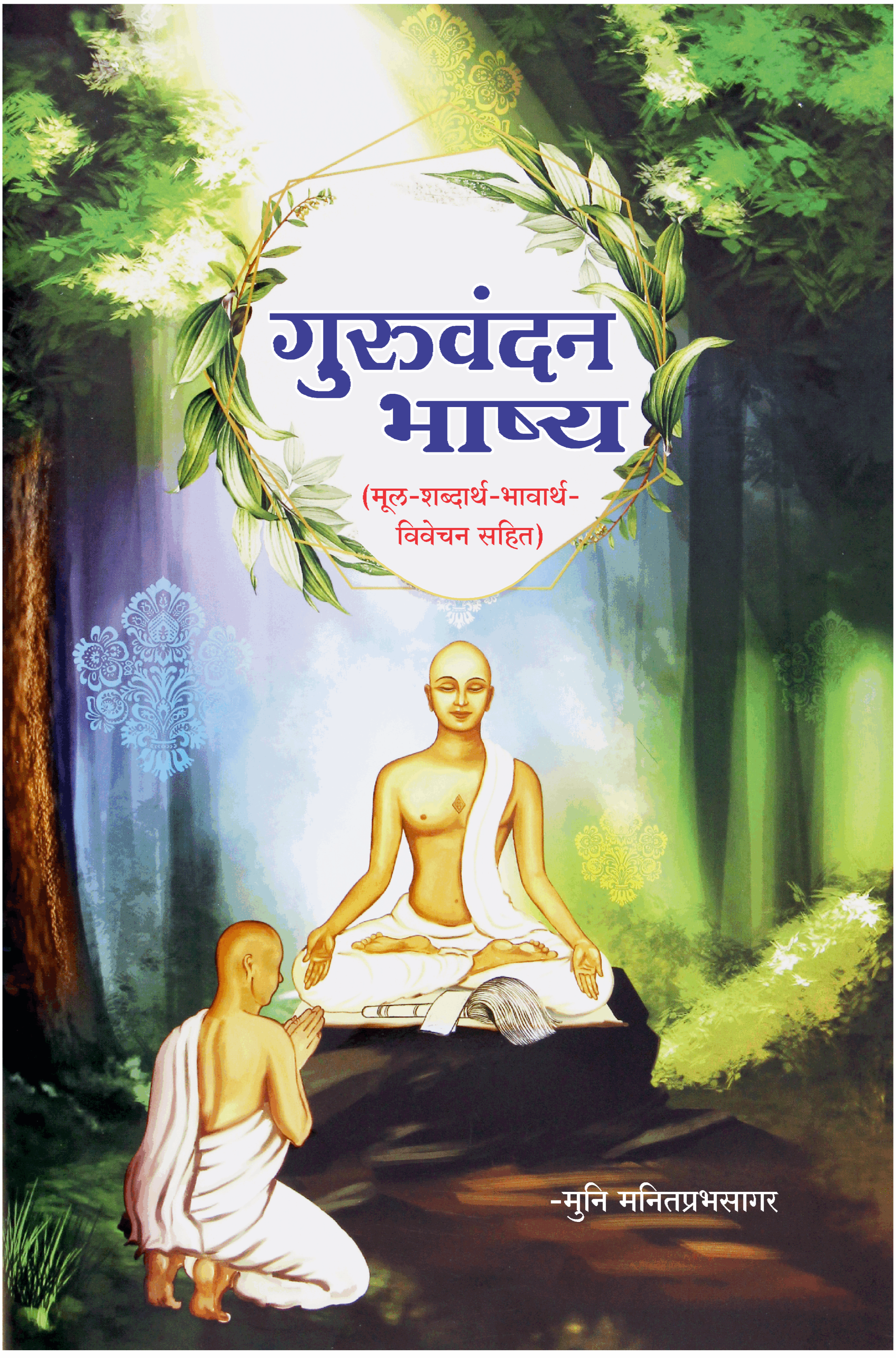

गुरुवंदन भाष्य
(मूल-शब्दार्थ-भावार्थ-विवेचन सहित)
-मुनि मनितप्रभसागर

समर्पण

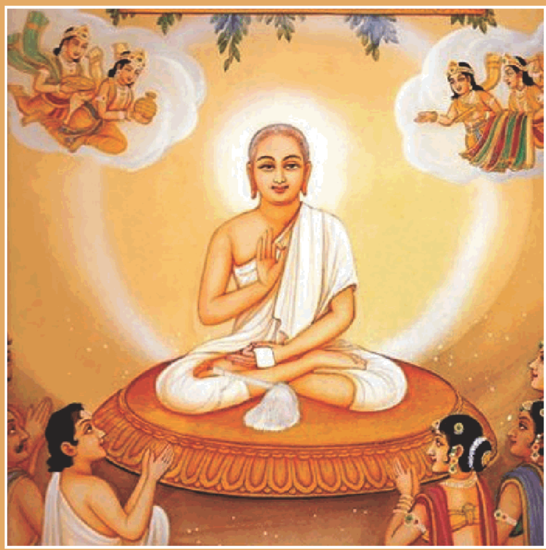

प्रसादाय, प्रमोदाय, पूर्णपद-प्रदायिने।

परब्रह्म-प्रकाशाय, गौतम स्वामिने नमः।।

समस्त मंगलों में परम मंगल

परमोज्ज्वल... परमोत्कृष्ट

परम पुण्यप्रकाशकारी

गणधर

श्री गौतम स्वामी

को सादर समर्पित

-मुनि मनितप्रभसागर

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित

गुरुवंदन भाष्य

(मूल-शब्दार्थ-भावार्थ-विवेचन सहित)

मुनि मनितप्रभसागर

जहाज मंदिर प्रकाशन पुष्प : 234

आशीर्वाद
अवंति तीर्थोद्धारक पू. खरतरगच्छाधिपति
आचार्य श्री जिनमणिप्रभसूरीश्वरजी म.सा.

विवेचन
मुनि मनितप्रभसागर

प्रथमावृत्ति - 2000 (2019)
द्वितीयावृत्ति - 500 (2020)

मूल्य : 50 रु.

प्राप्ति स्थल-प्रकाशक
श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक ट्रस्ट
जहाज मंदिर, माण्डवला-343042 (जालोर-राज.)
मो. 09649640451

मुद्रक
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस
मोहता चौक, बीकानेर मो. 9314962474/75

अर्थ सौजन्य

सोहनलाल–सौ. मांगीदेवी बोथरा
गौतम (Advocate)–सौ. ममता बोथरा
रौनक, सिद्धार्थ, धारा बोथरा (बाड़मेर)

बाबूलाल–देवीबाई बोथरा
सुरेश कुमार–मंजूदेवी बोथरा
अंकिता, करिश्मा, शुभम् बोथरा (बाड़मेर)

प्रस्तुत पुस्तक का ज्ञान खाते की राशि से प्रकाशन हुआ है,
अत: गृहस्थ मूल्य अर्पण किये बिना इस पर निजी अधिकार न रखें।
कृपया पुस्तक को फाड़े–बिगाड़े नहीं, जलाये नहीं, अनादर करें नहीं।
रद्दी में बेचे नहीं, झूठे मुँह पढे नही।

संदर्भ ग्रंथ सूची

* आचारांग सूत्र
* भगवती सूत्र
* उत्तराध्ययन सूत्र
* दशवैकालिक सूत्र
* स्थानांग सूत्र
* व्यवहार सूत्र
* अनुयोग द्वार सूत्र
* आवश्यक सूत्र
* कल्पसूत्र
* वृहत्कल्पसूत्र
* गच्छाचार पयन्ना
* आवश्यक निर्युक्ति
* आवश्यक सूत्र वृत्ति
* प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
* कम्मपयड़ी
* पंचाशक प्रकरण
* धर्म संग्रह वृत्ति
* गुरुवंदन भाष्य अवचूरि
* संस्कृत हिंदी शब्दकोष

मंगलम्

जैन साहित्य में भाष्यत्रय का महत्वपूर्ण स्थान है। नवदीक्षित मुनियों के प्रारम्भिक पाठ्यक्रम में तीन भाष्यों का समावेश होता है।

वर्तमान में प्रचलित इन भाष्यों की रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई है।

12वीं-13वीं शताब्दी के महान् आचार्य दादा जिनदत्तसूरि ने अपने ग्रन्थ संदेह दोलावली में तीन भाष्यों का उल्लेख किया है। वे तीनों भाष्य आज अनुपलब्ध हैं। उनकी खोज की जानी चाहिये। प्रचलित तीन भाष्यों में से चैत्यवंदन भाष्य व पच्चक्खाण भाष्य का अर्थ-विवेचन पूर्व में प्रकाशित हो चुका है।

प्रत्याख्यान भाष्य के पश्चात् गुरुवंदन भाष्य की विवेचना प्रस्तुत करके प्रिय शिष्य मुनि मनितप्रभ ने भाष्य संबंधी कार्य की पूर्णाहूति का उद्घोष किया है।

यह ग्रन्थ नये जिज्ञासुओं के लिए जितना उपयोगी होगा, उससे भी ज्यादा इस विषय को पढाने वाले अध्यापकों के लिये उपयोगी होगा क्योंकि इसमें पदार्थ को अत्यन्त सहजता से उद्घाटित किया गया है।

मेरी कामना है कि मुनि मनितप्रभ की कलम-यात्रा इसी प्रकार सतत बहती रहे।

- आचार्य जिनमणिप्रभसूरि

तस्मै श्री गुरवे नमः

गुरु की महिमा अपार है। भारत में ही नहीं, इसके पार भी गुरु की महिमा है। मंत्रदाता, दीक्षादाता, शिक्षादाता, मार्गदाता, धर्मदाता आदि अनेक रूपों में गुरु के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।

ध्यान यह रखना है कि मात्र वस्त्र परिवर्तन से बने औपचारिक गुरु हैं पर जिनका चारित्र पवित्र हो, वे अलौकिक गुरु हैं।

गुरु का वाक्य मंत्र के समान है, गुरु की दृष्टि कृपा स्वरुप है, गुरु का अनुसरण भगवद् आज्ञा है और गुरु का आशीष मोक्ष का वरदान है। जब लौकिक गुरु की मूर्त्ति से धनुर्विधा का सांगोपांग ज्ञान हो सकता है तो प्रत्यक्ष पंचमहाव्रतधारी, निष्कपट, शान्त, दान्त और ज्ञानी-ध्यानी गुरु की उपासना से मोक्ष की प्राप्ति में आश्चर्य ही क्या है?

जब सिकन्दर विश्व-विजय की यात्रा पर निकला, तब माँ के द्वारा 'गुरु' लाने की प्रार्थना, गुरु की गरिमा का परिचय देती है। गुरु के बिना धर्म तो क्या, संसार भी शुरू नहीं होता।

हम इतिहास को टटोलते हैं तो पाते हैं कि महापुरुष भी गुरुजनों का सामीप्य एवं सानिध्य पाकर ही महानता का वरण करते हैं। श्री राम ने गुरु वशिष्ट की, श्री कृष्ण ने गुरु सांदीपनी की और कुमारपाल राजा ने गुरु हेमचन्द्राचार्य की चरण रज पायी, तभी प्रसिद्धि के साथ परम सिद्धि के पात्र बने।

इतना ही नहीं? तीर्थंकर भी तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन के पूर्ववर्ती तृतीय भव में गुरु की छत्रछाया में अर्हत् पद का निबन्धन करते हैं।

वास्तव में गुरु ही मोक्ष महल की नींव है और गुरु ही सिद्धि-मंदिर का मंगल कलश है।

जैन शास्त्रों में ही नहीं, जैनेतर शास्त्रों में भी गुरु को विशिष्ट सम्मान दिया गया है। कवियों ने तो यहाँ तक कह दिया कि भगवान से पहले गुरु को वंदन हो क्योंकि भगवान से परिचित करवाने वाले गुरु ही हैं।

संत कबीर की ये पंक्तियाँ अद्‌भुत हैं -

कबीरा ते नर अन्ध हैं, कहत गुरु को और!

हरि रुठे गुरु ठौर है, गुरु रुठे नहीं ठोर ।।

कदाचित् भगवान नाराज हो जाये तो चिन्ता मत करना क्योंकि हरि के अभाव में गुरु के चरणों का ठिकाना है पर गुरु को रूठने मत देना क्योंकि वे रूठ गये तो न कोई आसरा है, न कोई अपना है।

जैन जगत् के सर्वोत्तम मंत्र नवकार में भी गुरु को महान् स्थान प्राप्त है। पाँच पदों में से चार पदों पर गुरु का निवास है।

जगत् के सर्वश्रेष्ठ गुरु श्रीमन्महावीर!

लब्धि भण्डार गणधर गौतम स्वामी!

परमात्मा वीर के पट्टधर सुधर्मा स्वामी।

मूर्धन्य मनीषी आचार्य श्री हरिभद्रसूरि।

खरतरनभश्रृंगार वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि

हर गच्छ-समुदाय में गुरुजनों की महती कृपा रही है। कोई प्रवचनकार तो कोई ग्रन्थकार! कोई लेखक तो कोई पाठक! कोई जैन निर्माता तो कोई संकट त्राता। कोई श्रुत संरक्षक तो कोई नृप-प्रतिबोधक! ज्ञान-प्रचारक तो कोई संयम-साधक। शम-दम, जप-तप, ज्ञान-ध्यान, त्याग-वैराग, हर क्षेत्र में गुरु की अनिर्वचनीय भूमिका रही है।

गुरुवंदन भाष्य महामनीषी आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि की उर्वर बौद्धिक प्रतिभा की देन है। भाष्यकार एवं अर्वाचीन कर्मग्रन्थकार के रूप में उनकी विपुल ख्याति है।

गुरु वंदन सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं को एक स्थान पर समाहित करने वाला यह गुरुवंदन भाष्य भाष्यत्रयम् के द्वितीय स्थान पर आदर और श्रद्धा को प्राप्त है।

गुरुवंदन भाष्य गुरु-महिमा का रत्नाकर है। गुरु तत्त्व के प्रति विनय, औचित्य, सेवा, वंदन विधि, साधना, इंगिताकार, दोष वर्जन, आशातनाएँ आदि समस्त तथ्यों का स्पष्टीकरण कुल 22 द्वारों में हो जाता है।

प्रकरण, भाष्य, कर्मग्रंथ आदि पर गुजराती भाषा में अनेक विवेचन-ग्रन्थ उपलब्ध हैं पर हिन्दी भाषी लोगों को इस संदर्भ में प्राय: निराशा ही हाथ लगती है। पूज्य गच्छाधिपति आचार्य श्री जिनमणिप्रभसूरीश्वरजी म.सा. का ध्यान इस तरफ गया, जिसके परिणामस्वरूप पिछले दस वर्षों में आश्चर्यकारी परिणाम सामने आया है।

जीव विचार, नवतत्व, दण्ड़क, इन तीन प्रकरणों के साथ चैत्यवंदन व प्रत्याख्यान भाष्य के हिन्दी विवेचन ग्रंथ व प्रश्नोत्तर ग्रंथ आ चुके हैं। छह में से प्रथम तीन कर्मग्रन्थों का भी विवेचन उपलब्ध है। यह भी संतोष का विषय है कि पाठक वर्ग ने भरपूर चाव से उपरोक्त ग्रंथों को पढा है एवं सम्मान दिया है।

मेरे मन में बाड़मेर स्वर्णिम चातुर्मास में एक विचार तरंगित होता रहा कि शीघ्र ही गुरुवंदन भाष्य पर कार्य सम्पन्न होना चाहिये।

आखिरकार योग प्रकटप्रभावी मरु में कल्पतरु के तुल्य श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ की पावन छाया में विकसित हुआ तथा गुरुदेवश्री की आज्ञा से गुरुवंदन भाष्य की विवेचना का मंगल शिलान्यास किया गया।

प्रस्तुत कार्य की पूर्णता में पुरुषादानीय पार्श्वनाथ का असीम अनुग्रह रहा है। कभी चिन्तामणि बनकर उन्हें मेरी चिन्ताओं का प्रणाश किया तो कभी पारसमणि के रूप मेरी स्तंभित प्रज्ञा को गतिशील करके मस्तिष्क को चिन्तनशील बनाया। मेरी अनन्तान्त वंदनाएँ पार्श्वप्रभु के चरणों में समर्पित हैं।

शासननायक प्रभु वर्धमान स्वामी मेरे उत्साह का संवर्धन करते रहे तथा श्रद्धा के सिंहासन पर विराजमान गणधर गौतम प्रभु मेरे अज्ञान तम को हरते रहे। आचार्य श्री जिनदत्तसूरि आदि चार दादा गुरुदेवों के साथ गणनायक भगवंत श्री सुखसागर जी म.सा. एवं प्रगुरुदेव श्री जिनकान्तिसागरसूरिजी म.सा. का कृपा-प्रसाद सतत मिलता रहा।

पूज्य गुरुदेव गच्छाधिपति आचार्य श्री जिनमणिप्रभसूरिजी म.सा. की अनन्त कृपादृष्टि मेरे जीवन के हर उपक्रम का पहला मंगल है। उनके चरणों में मैं सादर विनयावनत हूँ। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जिनका भी सहयोग संप्राप्त हुआ है, उनके प्रति भी मैं सादर कृतज्ञ हूँ।

गुरुपथ के राही प्रस्तुत ग्रंथ को पढ़कर-समझकर जीवन में गुरु पद की सेवा के द्वारा प्रभुता व निजता का पाथेय प्राप्त करें। जिनाज्ञा विरुद्ध कथन के प्रति सादर क्षमाप्रार्थी हूँ।

मणि चरण रज

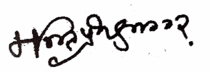

मुनि मनितप्रभसागर

गुरुवन्दनम्... पाप-निकन्दनम्

गुरुवन्दन भाष्य का अतिशीघ्र द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। पूर्वाचार्य श्री देवेन्द्रसूरि विरचित प्रस्तुत ग्रंथ में गुरु से सम्बद्ध समस्त विधि-विधानों का संग्रहण किया गया है।

पूज्य विपुल साहित्य सर्जक मुनिवर श्री मनितप्रभसागरजी म.सा. ने प्रस्तुत भाष्य पर सरल व संक्षिप्त व्याख्या लिखकर गागर में सागर भरने वाली उक्ति चरितार्थ की है। निश्चित ही मुनिश्री खरतरगच्छ में ही नहीं, जिनशासन के हिन्दी लेखकों में भी अपना वैशिष्ट्य से परिपूर्ण स्थान रखते हैं।

मात्र 19 साल के दीक्षा पर्याय में 100 से अधिक पुस्तकों का आलेखन व विवेचन करके उन्होंने गच्छ व गुरु की गरिमा में अभिवृद्धि की है।

प्रस्तुत विवेचन से गुरु महिमा को जाने एवं जीवन को समर्पण के मधुर मधु से महकाये, एक मात्र यही शुभकामना।

प्रकाशकीय
श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक ट्रस्ट
जहाज मंदिर, माण्डवला (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

गुरुवंदन के तीन प्रकार	13
दो बार वंदन क्यों ?	16
विनय धर्म का मूल है....	18
द्वादशावर्त्त वन्दन का अर्थ एवं किसे कौनसा वंदन?	21
वंदन विधि का प्रारूप	28
गुरु वंदन के 22 द्वार	30
पहला द्वार : पाँच वंदन	33
दूसरा द्वार : पाँच उदाहरण	37
तीसरा द्वार : पाँच अवन्दनीय साधु	43
चौथा द्वार : पाँच वन्दनीय साधु	51
पाँचवाँ-छठवाँ : द्वार वन्दन अकर्त्ता एवं कर्ता	54
सातवाँ द्वार : पाँच स्थान पर वन्दन नहीं	56
आठवाँ द्वार : चार स्थान पर वन्दन	57
नौवां द्वार वंदन के आठ कारण	58
दसवाँ द्वार पच्चीस आवश्यक	60
कर्म-निर्जरा नहीं	64
ग्यारहवाँ द्वार : मुँहपत्ति की 25 प्रतिलेखनाएँ	66
बारहवाँ द्वार : शरीर-पड़िलेहण के 25 बोल	69
आवश्यकीय विधि से कर्मक्षय	72
तेरहवाँ द्वार : गुरुवंदन में वर्ज्य बत्तीस दोष	80
दोषमुक्त वंदना का परिणाम	90
चौदहवाँ द्वार : वंदन से छह गुणों की प्राप्ति	91
पन्द्रहवाँ द्वार : गुरु की स्थापना	93
स्थापना के प्रकार, काल आदि	94
गुरु स्थापना से कार्य सिद्धि	97
सोलहवाँ द्वार : अवग्रह का कथन	99
सतरहवाँ - अठारहवाँ द्वार : वंदन-सूत्र के अक्षर व पद	101
उन्नीसवाँ द्वार : गुरुवंदन के छह स्थान	103
बीसवाँ द्वार : छह गुरुवचन	105
इक्कीसवाँ द्वार : गुरु की 33 आशातनाएँ	108
बाईसवाँ द्वार : वृहत्गुरुवंदन अर्थात् लघु राई प्रतिक्रमण विधि	115
लघु देवसिक प्रतिक्रमण विधि	117
गुरुवंदन का अचिन्त्य लाभ	118
भाष्यकार की क्षमापना	119

गुरु वंदन के तीन प्रकार

गाथा

गुरुवंदणमह तिविहं, तं फिट्टा छोभ बारसावत्तं।
सिरनमणाइसु पढमं, पुन्नखमासमण दुगि बीअं।।1।।

शब्दार्थ

गुरुवंदणं	-	गुरुवन्दन	सिर	-	मस्तक
अह	-	अब, अथ	नमणाइसु	-	नमन आदि में
तिविहं	-	तीन प्रकार के	पढमं	-	पहला
तं	-	वे वन्दन	पुन्न	-	पूर्ण-संपूर्ण
फिट्टा	-	फेटा	खमासमण	-	खमासमण
छोभ	-	थोभ	दुगि	-	दो
बारसावत्तं	-	द्वादशावर्त्त	बीअं	-	दूसरा

भावार्थ

चैत्यवंदन भाष्य के उपरान्त गुरुवंदन भाष्य के द्वारा गुरुवंदन आदि का वर्णन किया जाता है। गुरु भगवंत को फेटा, थोभ और द्वादशावर्त्त रूप तीन प्रकार का वंदन किया जाता है।

मस्तक, गर्दन आदि के नमन द्वारा फेटा वन्दन और दो खमासमणे देते हुए सम्पूर्ण शरीर झुकाने से थोभ वंदन होता है।।1।।

विशेषार्थ

पूज्यपाद आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिजी म.सा. द्वारा विरचित तीन भाष्यों की शृंखला में द्वितीय स्थान पर उपस्थित गुरुवंदन भाष्य में गुरुवंदन से सम्बन्धित विधि की विवेचना की गयी है।

सबसे पहले यह प्रश्न होता है कि भाष्यकार ने अनुबंध चतुष्ट्य का कथन क्यों नहीं किया, जबकि प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारंभ में उनका विवेचन किया जाता है।

वस्तुत: यह गुरुवंदन भाष्य स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर भाष्यत्रयम् की कड़ी में दूसरा भाष्य है। अत: प्रथम चैत्यवंदन भाष्य में दिये गये अनुबंध चतुष्ट्य का यहाँ स्वयमेव ग्रहण हो जाता है। प्रथम गाथा में 'अह' पद के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति दी गयी है।

सामान्य जानकारी हेतु अनुबंध चतुष्ट्य का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

1. **मंगलाचरण**- विघ्नों की समाप्ति एवं लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु से देव-गुरु का स्मरण मंगलाचरण कहलाता है।

2. **सम्बन्ध**- प्रस्तुत भाष्य कल्पनाओं पर आधारित नहीं है, अपितु आगम आदि पंचांगी में पूर्वाचार्यों ने गुरुवंदन का जो स्वरूप बताया है, उस आधार पर ही प्रस्तुत ग्रन्थ को आकार दिया गया है।

3. **विषय**- 'गुरुवंदणं' पद के द्वारा भाष्य में विवेच्य विषय स्पष्ट होता है।

4. **अधिकारी**- गुरु भगवंतों के प्रति श्रद्धान्वित व्यक्ति इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी हैं। जिनकी बुद्धि मात्र तर्क-कुतर्क एवं वाद-विवाद में रत रहती है, वे इस ग्रन्थ को नहीं पढ़ सकते।

5. **प्रयोजन**- लौकिक हो या अलौकिक, हर प्रवृत्ति का कोई न कोई प्रयोजन होता ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन-पाठन, लेखन-विवेचन का लक्ष्य ज्ञानावरणीय कर्म का समूल नाश करना है। गुरु महिमा, वंदन

के प्रकार आदि को जानकर क्रियापूर्वक शीघ्र मोक्ष प्रासाद को पाना है।

ग्रन्थ में प्रवेश करने से पहले 'गुरु' शब्द की गहराई को नापना जरूरी है।

जो अंधकार को हटाकर प्रकाश का पाथेय प्रदान करें, वह गुरु। जिसके पास बैठने से मन संतुलित हो, चित्त पवित्र हो, आत्मा प्रभावित हो, नयन प्रसन्न हो, काया आकर्षित हो तथा जीवन पावन हो, वह गुरु।

'गुरु' शब्द के संस्कृत हिन्दी शब्दकोष में अनेक पर्यायवाची कहे गये हैं - भारी, वजनदार, प्रशस्त, बड़ा, महत्त्वपूर्ण, आदरणीय, अभीष्ट अध्यापक, शिक्षक, शासन आदि।

ज्ञान और क्रिया से सम्पन्न गुरु !
भाव और प्रभाव से संयुक्त गुरु !
पाप और संताप से विमुक्त गुरु !
संयम और नियम से परिपूर्ण गुरु !
त्याग और वैराग से छलकते गुरु!

गुरु वंदन के तीन प्रकार कहे गये हैं- 1. फेटा वंदन 2. थोभ वंदन 3. द्वादशावर्त्त वंदन।

फेटा वन्दन उसे कहते हैं, जिसमें हाथ जोड़ना, सिर झुकाना, आधे शरीर को नमाना होता है।

थोभ वंदन उसे कहते हैं, जिसमें सिर, दो हाथ और दो पाँव भूमि का एक साथ स्पर्श करते हैं। इसमें पाँच अंगों से नमन किया जाता है, अत: इसे पंचांग प्रणिपात वंदन भी कहते हैं।

यदि पाँच अंग व्यवस्थित रूप से नहीं झुकते हैं अथवा उसमें किंचित् भी कमी रह जाती है तो इसे फेटा वन्दन में गिना जाता है।

थोभ वंदन में दो खमासमणे दिये जाते हैं एवं द्वादशावर्त्त वन्दन में दो बार वन्दनक (वांदणे) बोले जाते हैं। उसका कारण आगामी गाथा में प्रस्तुत करते हैं।

•••

दो बार वंदन क्यों ?

गाथा

जह दुओ रायाणं, नमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा।
विसज्जिओ वि वंदिय, गच्छइ एमेव इत्थ दुगं।।2।।

शब्दार्थ

जह	-	यथा	वि	-	भी
दुओ	-	दूत	वंदिय	-	वन्दन करके
रायाणं	-	राजा को	गच्छइ	-	जाता है
नमिउं	-	नमन करके	एमेव	-	इस प्रकार
कज्जं	-	कार्य	इत्थ	-	यहाँ (वन्दन में)
निवेइउं	-	निवेदन करके	दुगं	-	दो बार
पच्छा	-	उसके बाद			खमासमण या
विसज्जिओ	-	विसर्जन होने पर			दो वांदणे

भावार्थ

दूत जब राजसभा में पहुँचता है, तब कार्य का निवेदन करने से पूर्व जिस प्रकार नमस्कार करता है, उसी प्रकार कार्य का निवेदन करने के बाद सभा का विसर्जन हो जाने पर भी नमस्कार करता है, इसी प्रकार थोभ एवं द्वादशावर्त्त वन्दन में दो बार वन्दन होता है।।2।।

विशेषार्थ

उपरोक्त गाथा में जिज्ञासा और समाधान है। जिज्ञासु ने प्रथम

गाथा में जाना कि थोभ और द्वादशावर्त्त वंदन दो-दो बार होता है तो उसने इसका कारण पूछा।

जिज्ञासा का समाधान करते हुए ग्रन्थकार ने कहा- एक राजदूत कार्य हेतु जब राजसभा में उपस्थित होता है, तब कार्य का निवेदन करने अथवा आगमन का प्रयोजन बताने से पहले राजा को हाथ जोड़कर नमस्कार करता है। जब अपने कार्य का निवेदन कर देता है, तब राजसभा से प्रत्यावर्तित होने से पहले भी पुन: नमस्कार करता है।

व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि जब कोई मेहमान घर पर आता है, तब मेजबान उनका हाथ जोड़कर एवं जय जिनेन्द्र, प्रणाम अथवा 'जय केशरियानाथ की' बोलकर स्वागत करता है। उसको नाश्ते, भोजन आदि की मनुहार करने के बाद जब वह वापस लौटने को उद्यत होता है तब पुन: हाथ जोड़कर 'पधारजो सा' कहकर अभिवादन करता है।

इसी तरह गुरु भगवंत को थोभ वंदन में दो खमासमणे देकर वंदन किया जाता है तथा द्वादशावर्त्त वंदन में दो बार वन्दना (वांदणे) का पाठ बोला जाता है।

जहा दुओ..... यह गाथा आवश्यक निर्युक्ति में है। इसमें और उसमें मात्र चतुर्थ चरण में ही भिन्नता है। उसमें **'गच्छइ साहू वि एमेव'** (गाथा संख्या 1234) में कहा गया कि जाते-आते, दोनों समय गुरुवंदन करना चाहिये।

हमारा निर्णय होना चाहिये कि-

- **त्रियोग से वन्दन हो।**
- **सद्गुरुदेव को वन्दन हो।**
- **मोक्ष की प्राप्ति हेतु वन्दन हो।**
- **भावों की पवित्रता से वन्दन हो।**

विनय धर्म का मूल है....

गाथा

आयारस्स उ मूलं, विणओ सो गुणवओ य पडिवत्ती।
सा य विहि वंदणाओ, विहि इमो बारसावत्ते।।3।।

शब्दार्थ

आयारस्स	- आचार का	सा	- वह भक्ति
उ	- तो	य	- और
मूलं	- मूल	विहि	- विधिपूर्वक
विणओ	- विनय	वंदणाओ	- वंदन से
सो	- जो	विहि	- विधि
गुणवओ	- गुणवानों की	इमो	- वह विधि आगे कही जायेगी,
य	- और		
पडिवत्ती	- प्रतिपत्ति, भक्ति	बारसावत्ते	- द्वादशावर्त्त में

भावार्थ

- ☯ धर्म स्वरूप आचार का मूल विनय है।
- ☯ विनय गुणवानों की भक्ति स्वरूप है।
- ☯ वह भक्ति विधिवत् वंदन से होती है।
- ☯ उस विधि का वर्णन आगामी गाथाओं में द्वादशावर्त्त वंदन के अन्तर्गत किया जायेगा।।3।।

विशेषार्थ

प्रस्तुत गाथा कार्य-कारण भाव से युक्त है। आचार स्वरूप कार्य का मूल कारण विनय है। जिनशासन का प्राण विनय धर्म है। अरे! जब विनय के बिना परिवार-व्यापार तथा संघ-समाज भी नहीं चल सकता, तो फिर मोक्षमार्ग की यात्रा में विनय को प्रमुखता दी जाये तो आश्चर्य ही क्या है?

जिनशासन की स्थापना के मूल में विनय है क्योंकि गौतम गणधर आदि ने विनय सहित ही वीर प्रभु के पथ को स्वीकार किया था।

विनय का अर्थ- विशिष्टं प्रति नयति इति विनय:।

विशिष्ट लक्ष्य (मोक्ष) की तरफ गति करवाने वाला विनय है।

आगमों में स्थान-स्थान पर विनय का महत्त्व बताया है। कभी उपदेश में तो कभी कथा के द्वारा! गौतम प्रभु की समस्त सम्पत्तियों, लब्धियों और शक्तियों का कारण एक मात्र विनय गुण ही था। श्रेणिक को उन्नामिनी एवं अवनामिनी नामक दो विद्याएँ विनय-भक्ति से मिली। साध्वी मृगावती, चण्ड़रुद्राचार्य के शिष्य, कुरगडु मुनि आदि ने विनय से मोक्ष पाया और कुलवालुक मुनि आदि ने अविनय के कारण सम्यग्दर्शन तक गंवाया।

बाहुबली ने अहंकार-अंधकार से ज्योंहि प्रणाम के प्रकाश में कदम रखा कि केवलज्ञान हो गया।

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रारंभ विणय अज्झयण (विनय-अध्ययन) से ही हुआ है। व्यवहार में भी देखते हैं कि लघुता गुण के प्रभाव से नदी, तालाब आदि जल से भर जाते हैं पर अहंकार के कारण पर्वत कभी भी भर नहीं पाते।

उत्तराध्ययन के उनतीसवें सम्यक्त्व पराक्रम अध्ययन में जिज्ञासा-समाधान है।

वंदणाए भंते! जीवे किं अज्जिअइ ?

भगवन् ! वंदन से जीव किसका उपार्जन करता है ?

गोयमा! अट्ठकम्मपगडीओ निबिडबंधणबद्धाओ सिढिल बंधणबद्धाओ करेइ।

गौतम! गाढ बंधन वाली आठ कर्म प्रकृतियों को शिथिल करता है और उसके स्थिति तथा रस भी कम करता है।

प्रशमरति प्रकरण में विनय का अद्भुत फल दर्शाया गया है। विनय → धर्मश्रवण → आगमज्ञान → विरति → संवर → तपोबल → निर्जरा → क्रिया → निवृत्ति → योग → निरोध → भव परम्परा का क्षय → मोक्ष की प्राप्ति!

बहुमूल्यवान् वस्त्र व आभूषणों से भी व्यक्ति जितना शोभित नहीं होता, उससे ज्यादा विनय से होता है।

'विणयाहिज्जा विज्जा दिंति फलं इह परे अ लोगम्मि।' विनीत को विद्या के परिणाम स्वरूप इहलोक एवं परलोक में फल की प्राप्ति होती है।

विनय के बिना विद्या लाभ हो सकता है, पर विद्या फलीभूत नहीं होती। विस्मृत ज्ञान का समय पर स्मृति में आना विनय का परिणाम है तथा काम पड़ने पर स्मृत-ज्ञान का विस्मृत हो जाना अविनय का परिणाम है।

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया-

विणओ जिणसासणस्स मूल, विणओ निव्वाण साहगो।
विणओ विप्पमुक्कस्स, कुओ धम्मो कुओ तवो।।1216।।

जिनशासन का मूल विनय है। विनय निर्वाण का कारण है। विनय-विहीन को न धर्म होता है, न तप। चार गति रूप संसार का विनाश करने वाला विनय है।

द्वादशावर्त्त वन्दन का अर्थ एवं किसे कौनसा वंदन?

गाथा

तइयं तु छंदणदुगे, तत्थमिहो आइमं सयलसंघे।
बीयं तु दंसणीण य, पयट्ठियाणं य तइयं तु।।4।।

शब्दार्थ

तइयं	- तृतीय, तीसरा	आइमं	- प्रथम
तु	- तो	सयल संघे	- सकल संघ में
छंदण	- वंदनक में	बीयं	- दूसरा थोभ वंदन
दुगे	- दो बार	दंसणीण	- दर्शनी (मुनि) को
तत्थ	- तत्र, वहाँ (तीन वंदन में)	पय	- पदवी में
		ट्ठियाणं	- रहे हुए को
मिहो	- परस्पर	तइयं	- तीसरा वंदन

भावार्थ

द्वादशावर्त्त वंदन दो वंदनक द्वारा किया जाता है। तीन वंदनों में से प्रथम फेटा वंदन सकल संघ में परस्पर होता है। दूसरा थोभ वंदन साधु-साध्वीजी को ही होता है। तीसरा द्वादशावर्त्त वंदन आचार्य आदि पदवीधर को किया जाता है।।4।।

विशेषार्थ

1. **फेटा वंदन**- सिर झुकाने और हाथ जोड़ने से फेटा वंदन होता है। दो हाथ, दो पाँव एव एक सिर, इन सकल पाँचों अंगों से वंदन न करना फेटा वंदन है।

यह संघ में पारस्परिक तौर पर होता है- 1. साधुओं में परस्पर 2. साध्वियों में परस्पर 3. श्रावकों में परस्पर 4. श्राविकाओं में परस्पर 5. श्रावक-श्राविका द्वारा साधु-साध्वी को 6. श्रावक-श्राविकाओं में परस्पर 7. साध्वी जी द्वारा साधु को।

2. **थोभ वंदन**- इच्छाकार-अब्भुट्ठियो से किया जाने वाला यह वंदन निम्नोक्त विधि से किया जाता है।

दो खमासमण के बाद इच्छाकार व अब्भुट्ठियो का पाठ बोला जाता है। अन्त में एक खमासमण दिया जाता है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि वंदनीय मुनि पदवीधर हो या 20 वर्ष से अधिक दीक्षा पर्याय वाला हो तो इच्छाकार एवं अब्भुट्ठियो के बीच एक खमासमण अतिरिक्त देना चाहिये।

यह वंदन मात्र साधु-साध्वी को ही होता है। श्रावक-श्राविका यदि उत्कृष्ट नियमधारी हो, तब भी प्रणाम से ही बहुमान होता है।

जिज्ञासा- महाराजश्री! हम देखते हैं कि जिनशासन की कतिपय परम्पराओं में श्रावक साध्वी जी को वंदन नहीं करते जबकि खरतरगच्छीय परम्परा के साथ अन्य कतिपय परम्पराओं में श्रावक साध्वी जी को वंदन करते हैं ? ऐसा भेद किस कारण है ?

समाधान- जिनशासन में श्रमण की प्रधानता है। इस कारण तीर्थंकर, गणधर, गच्छाधिपति, आचार्य, उपाध्याय, गणी, प्रवर्तक, गणावच्छेदक आदि पद साध्वी जी को नहीं दिये जाते।

व्यवहार जगत् में भी जब चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, बलदेव आदि पुरुष ही बनते हैं तो फिर जिनशासन में श्रमण की प्रधानता में कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण एक दिन के दीक्षित साधु को भी

पचास वर्ष दीक्षा पर्याय वाले साध्वी जी वंदन करते हैं।

पर यह भी सत्य है कि श्रावक और साध्वी जी में से साध्वी जी ही महान् है क्योंकि अपना शासन गुणप्रधान है, न कि लिंग प्रधान। गुणों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, न कि मात्र पुरुष लिंग वालों के द्वारा।

जिज्ञासा- महाराजश्री! हम वरघोड़े में देखते हैं कि साधु के बाद श्रावक, फिर साध्वी और श्राविकाएँ रहती हैं, इससे क्या स्पष्ट नहीं कि श्रावक साध्वीजी से उत्कृष्ट हैं?

समाधान- वरघोड़े-जुलूस में श्रावकों के बाद साध्वी जी का चलना इस व्यवस्था हेतु निर्धारित है कि परस्पर संघट्टा न हो। यदि ऐसा मानेंगे तो जुलूस में दीक्षार्थी बग्घी में बैठता है, तब साधुओं से उच्च स्थल पर होने से उसे भी श्रमण वर्ग से बड़ा मानना होगा।

विविध कार्यक्रमों में साध्वी पाट पर बैठते हैं, जबकि श्रावक जाजम पर, इससे भी साध्वी जी भगवंत के श्रावक से अधिक गुणवन्ती होने का तथ्य स्पष्ट होता है।

श्रावकों द्वारा साध्वी जी को वंदन न करना किसी गच्छ-समुदाय की परम्परा हो सकती है। पर साध्वी जी को श्रावक द्वारा वन्दन करने पर दोषित ठहराना ठीक नहीं।

जिज्ञासा: महाराजश्री! हमें यह तथ्य तो समझ में आ गया कि व्रतों और महाव्रतों की अपेक्षा से श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वी में कनिष्ठ-ज्येष्ठ का भेद है पर साधु-साध्वी की पंचमहाव्रत-सम्पदा परस्पर सर्वथा तुल्य होती है, तो फिर साध्वी साधु को वन्दन क्यों करती है?

समाधान : शारीरिक, मानसिक, व्यवहारिक आदि अनेक अपेक्षाओं से साधु-साध्वी में अन्तर है। जिस तरह लौकिक क्षेत्र में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव पुरुष ही बन सकता है, वैसे ही अलौकिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी तीर्थंकर, गणधर, चौदहपूर्वधर, दस पूर्वधर आदि पुरुष ही बन सकता है।

परमात्मा महावीर के शिष्य श्रीधर्मदासगणी द्वारा विरचित उपदेश माला का उदाहरण देखिये -

संवाहणस्स रन्नो, तइया वाणारसीए नयरीए।
कण्णसहस्समहियं, आसी किर रूववंतीणं।।7।।
तहवि य सा रायसिरी, उल्लटंती न ताइया ताहिं।
उवरट्ठिएण एक्केण, ताइया अंगवीरेण।।8।।
महिताण सुबहुयाण वि, मज्झाओ इह समत्थघरसारो।
रायपुरिसेहिं निज्जइ, जणे विपुरिसो जहिं नत्थि।।9।।

पूर्वकाल में संवाहन राजा की वाणारसी नगरी में रूपवती 1000 कन्याएँ थी। राजा की मृत्यु होने के बाद वारिस के अभाव में अन्य राजा राज्य को लूटने लगे, तब वे 1000 कन्याएँ मिलकर भी राज्यलक्ष्मी की रक्षा नहीं रक पायी। जो अंगवीर नाम के पुत्र (पुरुष) जिसे पट्टरानी ने अपनी कुक्षि से जन्म नहीं दिया था, उसने राज्य का रक्षण किया।

लोक में अनेक स्त्रियों के होने पर भी पुरुष के अभाव में घर का सारा धन राजपुरुष ले जाते हैं, इस कारण लौकिक क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता है।

व्यवहार के क्षेत्र में हमेशा पुरुष की प्रधानतापूर्वक ही सम्बोधन किया जाता है, जैसे दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मामा-मामी, पति-पत्नी, जीजा-जीजी, समधी-समधन, भाई-बहिन, लड़का-लड़की, राजा-रानी, इन्द्र-इन्द्राणी, देव-देवी आदि।

धर्मदास गणी भगवंत कहते हैं - **'लोए वि पहू पुरिसो, किं पुण? लोगुत्तमे धम्मे'** लोक में भी पुरुष की प्रभुता पूज्य है तो फिर लोकोत्तर धर्म की तो बात ही क्या की जाये?

छत्तीस हजार साध्वियों की प्रमुखा अनुशासिका आत्मसाधिका आर्या चन्दनबाला की नम्रता के संदर्भ में उपदेशमाला में कहा गया -

अणुगम्मइ भगवई, रायसुयज्जा सहस्सविदेहिं।
तहवि न करेइ माणं, परियच्छइ तं तहा नूणं।।13।।

दिणदिक्खियस्स दमगस्स, अभिमुहा अज्जचंदणा अज्जा।
नेच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सव्वअज्जाणं।।14।।

हजारों लोगों से पूज्या भगवती राजपुत्री आर्या चन्दनबाला ने कभी भी गर्व नहीं किया क्योंकि वे जानते थे कि 'ज्ञानदर्शन, चारित्रादिगुणानां माहात्म्यं, परं मम माहात्म्यं नेति (उपदेशमाला टीका) यह महिमा मेरी नहीं, मेरे ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों की है।

साध्वी द्वारा साधु के प्रति विनयोपदेश देते हुए गाथा 14 में श्री धर्मदासगणी फरमाते हैं कि उपरोक्त गुण-गण की महिमा से मण्डित आर्या चंदनबाला सद्य: दीक्षित द्रमक के सामने भी आसन की इच्छा नहीं करते थे अर्थात् खडे ही रहते थे। इस तरह आज के दीक्षित साधु के प्रति समस्त साध्वियों द्वारा विनय धर्म निभाने योग्य है।

वरिससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमणवंदणनमंसणेण, विणएण सो पूज्यो।।15।।

सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी को आज के दीक्षित साधु के सामने जाना चाहिए तथा वंदन-नमस्कार करके आसन प्रदान करके उस साधु को पूजना चाहिये।

उपदेशमाला की 16वीं गाथा में कहा गया कि **'धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवर देसिओ पुरिसजिट्ठो'** धर्म की उत्पत्ति गणधर रूप पुरुष से ही होती है। उनके मार्गदर्शक भी तीर्थंकर रूप पुरुष ही होते हैं।

इसके साथ साधु में कुछ विरल विशिष्टताएँ होती हैं, जो साध्वी में नहीं होती-

☯ साधु अकेला हो तो भी क्रियोद्धार कर सकता है पर साध्वी नहीं कर सकती।

☯ साधु ही शासन-नायक (गच्छाधिपति, आचार्य आदि) बनता है, साध्वी नहीं बनती।

☯ प्रतिवादी को उत्तर देने के लिए साधु एकाकी वन में रूक पर साध्वी नहीं।

☯ साधु एकाकी विचरण कर सकता है पर साध्वी नहीं कर सकती। इस सकल विवेचन से स्पष्ट है कि साधु-साध्वी की महाव्रत सम्पदा समान होने पर भी साध्वी-साधु का विनय, वंदन आदि करती है।

जिज्ञासा- महाराज श्री! जब साध्वी केवलज्ञान प्राप्त कर सकती है तो आचार्य आदि पद क्यों नहीं ले सकती।

समाधान : शास्त्रों के आलोक में स्पष्ट है कि केवलज्ञान में आत्मसाधना की प्रधानता होती है पर गण-शासन की सार सम्हाल में गंभीरता, धैर्य, शक्ति आदि की विशेष जरूरत होती है। कभी कालिकाचार्य की तरह युद्ध भी करना पड़ सकता है तो कभी विष्णुकुमार मुनि की तरह संघ की सुरक्षा का गुरुतर दायित्व भी निभाना होता है।

गुरु (आचार्य) के संदर्भ में कहते हैं कि गीतार्थ अर्थात् आगामों को सूत्र, अर्थ और तदुभय से जानने वाले गुरु (आचार्य) होते हैं। उपदेश माला के अनुसार वे '**गंभीरोधीमंतो उवएसपरो य आयरियो**' गंभीर, धीर और उपदेशकुशल आचार्य होते हैं। स्वाभाविक रूप से स्त्री में धीरता व गंभीरता कम होती है, अत: वह आचार्य नहीं हो सकती।

जिज्ञासा - महाराजश्री! आप कहते हैं कि साध्वी आचार्य नहीं बन सकती पर उससे भी उत्कृष्ट पद अरिहंत पद है जिसे मल्लिकुंवरी ने स्त्री होकर भी पाया था, वह कैसे? इसे स्पष्ट करें।

समाधान - श्री मल्लिनाथ भगवान का स्त्री होकर भी तीर्थंकर बनना आश्चर्य स्वरूप कहा गया है। ऐसा आश्चर्य असंख्यकाल चक्रों में एक बार ही घटित होता है। अत: इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि साध्वी आचार्य बन सकती है या वह साधु से ज्येष्ठ हो सकती है।

पुरुष (आचार्य, उपाध्याय, साधु) की ज्येष्ठता व वरिष्ठता निम्नोक्त बिन्दुओं से जानी जा सकती है।

1. द्वादशांगी का ज्ञान पुरुष ही प्राप्त कर सकता है, स्त्री नहीं।

2. पुरुष की ही बारह भिक्षु प्रतिमाएँ कही गयी हैं। वे ही उसमें

रात्रि जागरण कर सकते हैं। श्मशान में पुरुष ही कायोत्सर्ग कर सकता है, स्त्री नहीं।

3. पुरुष का शरीर कष्ट-प्रतिकार, सहनशक्ति आदि में स्त्री के शरीर की अपेक्षा अधिक सक्षम होता है। स्त्री का आहार कम और भूख ज्यादा होती है।

4. एक समय में 108 पुरुष क्षपकश्रेणी में आरूढ हो सकते हैं, जबकि स्त्री मात्र 20 ही हो सकती हैं। हास्य, विकार, कषाय, ईर्ष्या आदि दुर्गुण भी स्त्री में अधिक होते हैं।

5. युगलिक में पुत्र के बाद में पुत्री का जन्म होता है। शादी में लड़की से लड़का 2-3 वर्ष ज्येष्ठ होता है।

6. पुरुष शरीर शुभनाम कर्म के उदय से मिलता है जबकि स्त्री शरीर शुभाशुभ शरीर नामकर्म से मिलता है। आहारक, पुलाक आदि लब्धियाँ भी पुरुष को ही मिलती हैं।

7. पुरुष ही त्रिषष्ठिशलाका पुरुष, गणधर, आचार्य, उपाध्याय आदि हो सकते हैं, साध्वी नहीं।

8. स्त्री खुले-अकेले में आतापना नहीं ले सकती है जबकि साधु ले सकता है।

9. स्त्री के रजस्वला होने से साधना में अन्तराय आता है। स्त्री शरीर में बलात्कार संभव है पर पुरुष शरीर में नहीं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्त्री से पुरुष प्रधान है और साध्वी से साधु प्रधान है। इसी कारण साध्वी साधु को वन्दन करती है।

3. **द्वादशावर्त्त वंदन**- यह वंदन आचार्य, उपाध्याय, गणी आदि पदवीधर साधुओं को साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं द्वारा किया जाता है। आचार्य स्वयं दीक्षा पर्याय में अधिक आचार्य को वंदन करते हैं।

वंदन विधि का प्रारूप

गाथा

वंदण चिइ किइकम्मं, पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।
कायव्वं कस्स व, केण वावि काहे व कइखुत्तो।।5।।
कइ ओणयं कइ सिरं, कइहि व आवस्सएहि परिसुद्धं।
कइदोस विप्पमुक्कं, किइकम्मं कीस कीरइ वा।।6।।

शब्दार्थ

वंदण	- वन्दन कर्म	कइ	- कितने
चिइ	- चिति कर्म	ओणयं	- अवनत
किइकम्मं	- कृति कर्म	कइसिरं	- कितने शीर्ष नमन
पूयाकम्मं	- पूजा कर्म	कइहि	- कितने
च	- और	आवस्सएहि	- आवश्यकों द्वारा
विणयकम्मं	- विनय कर्म	परिसुद्धं	- पूर्णशुद्ध
कायव्वं	- करना चाहिये	कइ	- कितने
कस्स	- किसको	दोस	- दोषों से
व	- अथवा	विप्पमुक्कं	- मुक्त, रहित
केण	- किनके द्वारा	किइकम्मं	- कृति कर्म
वावि	- और भी	कीस	- किस कारण
काहे	- कब	कीरइ	- किया जाता है
कइखुत्तो	- कितनी बार	वा	- अथवा

भावार्थ

प्रस्तुत गाथाएँ ग्रन्थकार ने आवश्यक निर्युक्ति से ली हैं। यद्यपि इन दो गाथाओं से वंदन विधि को नौ द्वारों के द्वारा बताया गया है, तथापि ग्रन्थकार स्वरचित आगामी तीन गाथाओं में गुरुवंदन के 22 द्वारों का विवेचन करेंगे, जिसमें नौ द्वार भी समाहित हो जायेंगे।

वंदन के पाँच नाम कहे गये हैं- वंदन कर्म, चिति कर्म, कृति कर्म, पूजा कर्म और विनय कर्म। इन पाँच नाम वाले वन्दन के नौ द्वार इस प्रकार हैं -

1. वन्दन किसे करना चाहिये? 2. किसके द्वारा किया जाना चाहिये? 3. कब करना चाहिये? 4. कितनी बार करना चाहिये? 5. शिष्य के अवनत (प्रणाम) कितने हैं? 6. शीर्ष नमन कितने हैं? 7. आवश्यक कितने हैं? 8. वन्दन कितने दोषों से मुक्त होना चाहिए? 9. वंदन किसलिये किया जाता है?

उद्धरिय सव्वसल्लो, आलोइय निंदिय गुरु सगासे।
होइ अतिरेगलहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो।।

ओघ निर्युक्ति 806

जैसे सिर पर लादा हुआ भार उतार देने पर भारवाहक भार से हल्का हो जाता है, वैसे ही जो साधक गुरु के सम्मुख अपने मन के सारे शल्यों (पाप रूपी कांटों) को निकालकर उसकी आलोचना व निंदा करता करता है, वह हल्का-लघु हो जाता है।

गुरु वंदन के 22 द्वार

गाथा

पणनाम पणाहरणा, अजुग्गपण जुग्गपण चउ अदाया।
चउदाय पण निसेहा, चउ अणिसेह-ट्ठकारणया।।7।।

शब्दार्थ

पण	- पाँच	चउदाय	- चार वन्दनकर्त्ता
नाम	- नाम, पर्यायवाची	पण	- पाँच
पणाहरणा	- पाँच उदाहरण	निसेहा	- निषेध (स्थान)
अजुग्गपण	- पाँच अयोग्य	चउ	- चार
जुग्गपण	- पाँच योग्य	अणिसेह	- अनिषेध
चउ	- चार	अट्ठ	- आठ
अदाया	- अवन्दनकर्त्ता	कारणया	- कारणों से

गाथा

आवस्सय मुहणंतय, तणुपेह-पणीस दोस बत्तीसा।
छ गुण गुरुठवण दुग्गह, दुछवीसक्खर गुरुपणीसा।।8।।

शब्दार्थ

आवस्सय	- आवश्यक	दोस	- दोष
मुहणंतय	- मुँहपत्ति	बत्तीसा	- बत्तीस
तणुपेह	- शरीर की पडिलेहण	छ गुण	- छह गुण
पणीस	- पच्चीस	गुरुठवण	- गुरु की स्थापना

दुग्गह - दो अवग्रह		अक्खर - अक्षर	
दुछवीस - दो सौ छब्बीस		गुरु पणीसा - पच्चीस गुरु	

गाथा

पय अडवन्न छठाणा, छग्गुरुवयणा असायणतित्तीसं।
दुविही दुवीस दारेहिं, चउसया बाणउइ ठाणा॥9॥

शब्दार्थ

पय	-	पद	दुविहि	-	दो विधि
अडवन्न	-	अट्ठावन	दुवीस	-	बाईस
छठाणा	-	छह स्थान	दारेहिं	-	द्वारों द्वारा
छग्गुरु वयणा	-	छह गुरु वचन	चउसया	-	चार सौ
असायण	-	आशातना	बाणउइ	-	बारानवें
तित्तीसं	-	तैतीस	ठाणा	-	स्थान

विशेषार्थ

उपरोक्त तीन गाथाओं में ग्रन्थकार ने गुरुवंदन भाष्य की भूमिका के अन्तर्गत 22 द्वारों के नाम और संख्या का निर्देश दिया है। इन 22 द्वारों में 492 भेद बताये जायेंगे, जिसमें गुरुवंदन की सारी बातें समाहित होगी।

गुरुवंदन के 22 द्वार एवं संख्या

1.	गुरुवन्दन के नाम	→	5
2.	गुरुवन्दन के उदाहरण	→	5
3.	गुरुवन्दन के अयोग्य साधु	→	5
4.	गुरुवन्दन के योग्य साधु	→	5
5.	वंदन अकर्त्ता	→	4
6.	वंदन कर्त्ता	→	4
7.	गुरुवन्दन में निषिद्ध स्थल	→	5

8.	गुरुवन्दन में अनिषिद्ध स्थल	→	4
9.	गुरुवन्दन के कारण	→	8
10.	गुरुवन्दन में आवश्यक	→	25
11.	मुँहपत्ति प्रतिलेखन के बोल	→	25
12.	शरीर प्रतिलेखन के बोल	→	25
13.	गुरुवन्दन में अविधि से दोष	→	32
14.	गुरुवन्दन से प्राप्त गुण	→	6
15.	गुरु की स्थापना	→	1
16.	गुरुवन्दन में अवग्रह	→	2
17.	गुरुवन्दन के सूत्र में अक्षर	→	226
18.	गुरुवन्दन के सूत्र में पद	→	58
19.	गुरुवन्दन में स्थान	→	6
20.	गुरुवन्दन में गुरुवचन	→	6
21.	गुरु महाराज की आशातना	→	33
22.	गुरुवन्दन की विधि	→	2
	कुल		**492**

अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणु गच्छइ।

सूत्रकृतांग सूत्र 1/1/2/19

यदि अंधा अंधे व्यक्ति का पथ-दर्शक ही बनता है, तो वह अंधा पथ से और ज्यादा भटक जाता है। इसी तरह यदि अज्ञानी तत्त्वदाता बनता है तो तत्त्व की जगह अतत्त्व का ही पोषण होता है।

पहला द्वार
पाँच वंदन

गाथा

वंदणयं चिइकम्मं, किइकम्मं विणयकम्मं पूअकम्मं।
गुरुवंदणपणनामा, दव्वे भावे दुहोहेण (दुहाहरणा)।।10।।

शब्दार्थ

वंदणयं	- वंदन कर्म	पण	- पाँच
चिइकम्मं	- चिति कर्म	नामा	- नाम
किइकम्मं	- कृति कर्म	दव्वे	- द्रव्य वंदन
विणयकम्मं	- विनय कर्म	भावे	- भाव वंदन
पूअकम्मं	- पूजा कर्म	दुह	- दो
गुरुवंदण	- गुरुवंदन	ओहेण	- सामान्य से
		दुहाहरणा	- दो उदाहरणों से

भावार्थ

गुरुवंदन के पाँच नाम हैं- वन्दन कर्म, चिति कर्म, कृति कर्म, विनय कर्म और पूजा कर्म। ये पाँचों सामान्यतया द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ

विवेच्य 22 द्वारों में से प्रथम द्वार में गुरु वन्दन के पाँच नामों का कथन किया गया है।

ये पाँचों नाम वन्दन के पर्यायवाची हैं, फिर भी व्युत्पत्तिपरक (मूल शब्द उत्पत्ति) की अपेक्षा से इन पाँचों में किंचित्-किंचित् भेद हैं ही।

जैसे मुनि को श्रमण, साधु, भिक्षु, अणगार, निर्ग्रन्थ, माहण भी कहा जाता है, फिर भी उनमें क्रिया आदि की अपेक्षा से थोड़ा-थोड़ा अन्तर तो है ही।

वह मौनी होने से मुनि, मोक्षमार्ग का श्रमिक होने से या स्वावलम्बी होने से श्रमण, भिक्षा-याचक होने से भिक्षु, घर रहित होने से अणगार, परिग्रह एवं राग-द्वेष की गांठ से रहित होने से निर्ग्रन्थ, हिंसा-हनन का निषेध करने से माहण कहलाता है।

विनय कर्म आदि पाँचों की द्रव्य और भाव, इन दो प्रकारों से गणना करने से दस भेद होते हैं।

1. **द्रव्य वंदन**- जैसे तेज बिना का सूर्य, गंध बिना का पुष्प और माधुर्य बिना का मिष्ठान्न मात्र द्रव्यत्व से सूर्य, पुष्प और मिष्ठान्न हैं, वैसे ही समर्पण, सेवा, सत्कार, श्रद्धा और अनुकरण बिना का वंदन द्रव्य वंदन है।

सत्ता-सम्पत्ति की प्राप्ति, मान-सम्मान में वृद्धि एवं धन-साधन की समृद्धि हेतु किया जाने वाला द्रव्य वंदन है।

2. **भाव वंदन**- वस्तु में निहित उसका गुण-धर्म भाव को व्यक्त करता है। जैसे शिष्य में अनुशासन, दानी में दानपरायणता, ज्ञानी में ज्ञानशीलता, जल में शीतलता, अग्नि में दाहकता आदि।

शिष्य में अनुशासन न हो तो वह द्रव्य (नाम मात्र) शिष्य है। राख में दाहकता का गुण न होने से वह द्रव्य अग्नि कहलाती है। रुकी हुई घड़ी द्रव्य घड़ी है।

☯ द्रव्य-भाव में परस्पर सम्बन्ध

द्रव्य में भाव रहता है। यदि भाव निकल जाये तो द्रव्य का न विशेष मूल्य रहता है, न उपयोग, न अर्थ।

द्रव्य-भाव, दोनों परस्पर पूरक हैं। वंदन की भावना आने पर व्यवहार में वन्दन होता ही है, जैसे वासुदेव श्रीकृष्ण। पर कभी कभी भावना होने पर भी मजबूरी के कारण व्यवहार में वन्दन नहीं हो पाता, जैसे गणधर गौतम स्वामी के आनंद श्रावक के घर जाने पर आनंद श्रावक उनके सम्मुख जाकर न स्वागत कर सका, न वन्दन में खमासमणे दे सका, तथापि भावना से समृद्ध होने से द्रव्य से वन्दन न कर पाने का खेद तो आनन्द श्रावक के मन में था ही। यदि ऐसा न होता तो वह काया की कुटिलता मानी जाती।

यह भी एक सत्य है कि कई बार द्रव्य-क्रिया करते-करते इतने श्रद्धापूर्ण भाव आते हैं कि द्रव्य लोच करवाते-करवाते जैसे चण्डरुद्राचार्य के शिष्य को साधुता की प्राप्ति हुई, वैसे ही वंदनकर्ता को भी हो जाये। कभी-कभी भाव वंदना में भावों की गहराई इतनी गहरी हो सकती है कि भरत चक्रवर्ती का नाटक करते हुए आषाढ़भूति को जैसे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, वैसे ही उसे भी हो जाये।

हमेशा भावों से वंदन करना। भाव दुर्बल-निर्बल हो, तब भी द्रव्य से वन्दन जरूर करना क्योंकि क्रिया भावों को आकर्षित करने में परम प्रभावशाली है।

1. **वंदन कर्म-** मन, वचन एवं काया के द्वारा होने वाली वन्दना वन्दन कर्म। मिथ्यात्वी जीव और विवेक रहित सम्यक्त्वी जीव की स्तवना-प्रक्रिया द्रव्य वन्दन कहलाती है। इसके विपरीत मोक्षप्राप्ति हेतु प्रशस्त मन, वचन एवं काया के द्वारा होने वाली सच्ची प्रशंसा और निष्काम वंदना भाव वन्दन कर्म कहलाता है।

2. **चिति कर्म-** चिति अर्थात् संचय करना। पुण्य कर्मों का जो संग्रह करवाता है, वह चिति कर्म। इसमें यह विशिष्टता है कि रजोहरण, मुँहपत्ति आदि का उपयोग होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव (तापस आदि) योग्य उपधि, उपकरण, रजोहरण आदि से वंदना करे, तब द्रव्य चिति कर्म कहलाता है। इससे संसार की

ऋद्धि-सिद्धि मिल सकती है, पर साधु पद एवं सिद्ध पद की समृद्धि हेतु द्रव्य के साथ भाव का भी होना जरूरी है। इस कारण रजोहरण आदि से युक्त वंदन करने के साथ विनम्रता का भाव भी होना जरूरी है।

जब सम्यक्त्वी जीव रजोहरण आदि संयम योग्य-उपकरण धारण करके वन्दन करता है, तब भाव चिति कर्म कहलाता है।

3. **कृति कर्म-** वन्दन करते समय तीनों योगों का उससे जुड़ना जरूरी है। मन व्यापार में, तन उपाश्रय में, वचन मात्र वंदन पाठ में, तो ऐसा वन्दन अप्रशस्त है।

जब वन्दन में मोक्ष प्राप्ति का प्रबल भाव जुड़े तो वह कृति कर्म है। पूर्ण, शुभ, एकाग्र एवं पवित्र त्रियोग से वन्दन भाव कृति कर्म है और चंचल मन, अस्थिर दृष्टि और ध्यानहीन वन्दन द्रव्य कृति कर्म है।

4. **विनय कर्म-** गुरु के अनुकूल होना विनय है। गुरु शास्त्रों का विनय करते हैं, शास्त्र जिनवाणी का एवं जिनवाणी अरिहन्त परमात्मा का विनय करती है। अत: गुरु सर्वदा तीर्थंकर के अधीन होते हैं। ऐसे गुरु अनुकूल बनना गुरु भगवंत का विनय है।

जब एक अक्षर का भी भावार्थ-सूत्रार्थ देने वाले गुरु के प्रति भी कृतज्ञ रहना चाहिये तो सम्पूर्ण शास्त्रों का नवनीत एवं संगीत देने वाले गुरु का विनय करना ही चाहिये।

जब विनय हृदय के अणु अणु से, तन के रोम-रोम से, आत्मा के हर प्रदेश से मन-वचन-काया के द्वारा प्रकट होता है, तब भाव वन्दन कर्म कहलाता है। संसार की भौतिकता हेतु गुरु भगवंत का विनय द्रव्य वंदन रूप है।

5. **पूजा कर्म-** यह लगभग वन्दन कर्म के समान है। मन, वचन एवं काया की प्रशस्त प्रवृत्ति पूजा कर्म है। जिसमें वचन और काया की क्रिया समुचित हो, पर मन में लोभ, तृष्णा आदि दोषों का उद्‌भव हो तो द्रव्य पूजा कर्म। इससे विपरीत वन्दनीय महापुरुष सामने हो, अथवा न हो, तब भी त्रियोग से पवित्रतापूर्वक वन्दन करना भाव पूजा कर्म है।

दूसरा द्वार
पाँच उदाहरण

गाथा

सीयलय खुड्डुए, वीरकन्ह सेवग दु पालए संबे।
पंचे ए दिट्ठन्ता, किइकम्मे दव्व भावेहिं।।11।।

शब्दार्थ

सीयलय	- शीतलाचार्य	संबे	- शाम्ब
खुड्डुए	- क्षुल्लकाचार्य	पंचे ए	- ये पाँचों
वीर	- वीरक सालवी	दिट्ठन्ता	- दृष्टान्त
कन्ह	- श्रीकृष्ण वासुदेव	किइकम्मे	- कृति कर्म
सेवग दु	- दो सेवक	दव्व	- द्रव्य
पालए	- पालक	भावेहिं	- भाव से

भावार्थ

कृतिकर्म आदि पाँचों वन्दन के स्पष्ट स्वरूप ज्ञान हेतु द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा से क्रमश: शीतलाचार्य, क्षुल्लकाचार्य, वासुदेव श्रीकृष्ण व वीरक सालवी, दो राजसेवक तथा पालक व शाम्बकुमार के दृष्टान्त कहे गये हैं।।11।।

विशेषार्थ

पूर्व गाथा में कथित पाँचों वन्दन समझाने हेतु यहाँ दृष्टान्तों का निरुपण किया गया है। कथा एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा गूढ़ एवं

जटिल बातों को सरलता से समझा जा सकता है।

शीतलाचार्य और क्षुल्लकाचार्य ने द्रव्य वन्दन के उपरान्त भाव वन्दन किया। अन्तिम तीन दृष्टान्तों में दो-दो व्यक्ति हैं, जिसमें से एक ने द्रव्य वन्दन किया और दूसरे ने भाव वंदन।

☯ वन्दन कर्म एवं शीतलाचार्य

प्रस्तुत दृष्टान्त का उल्लेख प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में प्राप्त होता है।

श्रीपुर नगर के राजा ने दीक्षा ली और शास्त्रों का गहन अर्थ प्राप्त करके आचार्य बने।

उनकी बहिन शृंगार सुन्दरी अपने चारों पुत्रों को अपने भाई महाराज का घटनाक्रम सुनाती हुई प्रतिदिन वैराग्य की प्रेरणा देती।

पूर्वभवों का विरति बीज अनुकूल पर्यावरण पाकर पल्लवित होने लगा। अन्ततोगत्वा चारों भाई असार संसार का त्याग करके किसी स्थविर गुरु भगवंत के शिष्य बन गये।

एक बार वे अपने सांसारिक मामा महाराज को वन्दन करने के लिये विहार-उद्यत हुए। विचरण करते हुए वे उस नगर के पास पहुँचे, जहाँ शीतलाचार्य विराजमान थे।

संध्या ढल रही थी। अंधकार की समस्या के कारण वे नगर-प्रवेश न कर सके और बाहर ही रुक गये। उन्होंने नगर में जाते हुए किसी व्यक्ति के द्वारा आचार्यश्री को समाचार भिजवाये कि कल उनके भांजे मुनि आयेंगे।

इधर पूर्वरात्रि में ऐसा घटनाक्रम बना कि वन्दना के भावों में बहते हुए चारों मुनि केवलज्ञानी बन गये। वे केवलज्ञानी भगवंत छद्मस्थ आचार्य मामा को वन्दन करने नहीं गये।

शीतलाचार्य प्रतीक्षा करते-करते थक गये। आखिर स्वयं ही वहाँ पहुँचे, तब भी वे केवली मुनि न सामने आये, न वंदन किया और सत्कार-सम्मान किया।

कुपित शीतलाचार्य उनको दुष्ट मानकर स्वयं वन्दन करने लगे, तब केवलज्ञानी मुनि बोले- यह तो द्रव्य वन्दन है।

आश्चर्य से आचार्य ने पूछा कि आपको कैसे पता चला?

केवलज्ञानी मुनिवर बोले- ज्ञान से।

आचार्य बोले- किस ज्ञान से? प्रतिपाती से या अप्रतिपाती से ?

शिष्य बोले- अप्रतिपाती केवलज्ञान से।

शीतलाचार्य को अपने अकृत्य व दुष्ट मानसिकता पर घोर पश्चात्ताप हुआ। उसके बाद भाव वन्दन करते हुए उन्हें भी केवलज्ञान हो गया।

☯ चिति कर्म और क्षुल्लकाचार्य

एक आचार्य का नाम- गुणसुन्दरसूरि। अंतिम समय में एक लघुवयी (क्षुल्लक) मुनि को आचार्य पद पर स्थापित करके वे स्वर्गवासी हुए।

गच्छवासी क्षुल्लकाचार्य की आज्ञा में रत्नत्रयी की उपासना करने लगे। आचार्यश्री गीतार्थ मुनियों के पास आगमों का अभ्यास करने लगे।

कर्मों की लीला अद्भुत है। चारित्र मोहनीय के कर्मोदय से आचार्यश्री की चारित्र-त्याग की इच्छा हुई। इस हेतु वे बड़ी नीति का बहाना बनाकर जंगल की ओर बढ़े और सहवर्ती मुनि को पता न चले, इस तरह वृक्षों की ओट में छिपकर सीधी राह पर चल पड़े।

आगे बढ़ते हुए एक सौम्य-सुरम्य वन में उन्होंने देखा कि लोग खेजड़ी के वृक्ष की पूजा कर रहे हैं। उनके मन में विचार आया कि उत्तम गुण वाले वृक्षों को छोड़कर ये लोग इस सामान्य वृक्ष की पूजा क्यों कर रहे हैं ?

पूछने पर लोगों ने कहा- हमारे पूर्वज इसी प्रकार पूजन करते आये हैं। यह उत्तर सुनकर क्षुल्लकाचार्य सोचने लगे कि मैं भी इस खेजड़ी के वृक्ष की भाँति गुणहीन हूँ। गच्छ में बकुल, आम्र आदि उत्तम वृक्षों के

तुल्य अनेक गुणवान मुनि हैं, तथापि मेरे गुरु ने मुझे आचार्य पद दिया। गच्छ के सारे गुणधनी मुनि मुझ निर्गुणी को पूजते हैं क्योंकि मेरे पास रजोहरण आदि उपकरण हैं।

विचार करते हुए क्षुल्लकाचार्य को अकृत्य के प्रति पश्चात्ताप हुआ। तत्क्षण वापस चले। साधुओं ने विलम्ब का कारण पूछा, तब आचार्य ने कहा कि उदर-शूल होने से देरी हो गयी। अन्त में प्रायश्चित्त स्वीकार करके क्षुल्लकाचार्य शुद्ध बने।

चारित्र-त्याग के समय रजोहरण आदि से युक्त क्षुल्लकाचार्य का द्रव्य चिति वंदन और प्रायश्चित्त करके शुद्ध बनने पर भाव चिति वन्दन कहा जायेगा।

(आवश्यक सूत्रवृत्ति एवं प्रवचन सारोद्धार वृत्ति)

☯ कृतिकर्म एवं श्रीकृष्ण व वीरक

द्वारिका नगरी के अधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण। उनका परमभक्त राजसेवक वीरक सालवी। वह वासुदेव का मुख-दर्शन किये बिना मुँह में अन्न का कौर तो क्या, जल की बूंद तक नहीं ड़ालता।

एक बार प्रभु श्री नेमिनाथ उज्जयंतगिरि पर समवसृत हुए। वासुदेव श्रीकृष्ण के अनेक राजा व सेवक वीरक भी प्रभु को वंदना के लिये वहाँ पहुँचे।

वासुदेव ने नेमिनाथ प्रभु के साथ-साथ हर मुनि को विधिवत् द्वादशावर्त्त वन्दन करने लगे। जो राजा अर्द्धचक्री के साथ वन्दन कर रहे थे, वे धीरे-धीरे थककर बैठ गये, पर श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे वीरक ने भी 18000 साधुओं को वन्दना की।

अत्यन्त थकान लगने से वासुदेव ने प्रभु नेमिनाथ से कहा- प्रभो! 360 युद्धों में भी जितनी थकान नहीं लगी, उससे भी ज्यादा आज लगी।

प्रभु ने कहा- श्रीकृष्ण! अभी-अभी तूंने क्षायिक सम्यक्त्व और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया है। इसके साथ सातवीं नरक का

आयुष्य कर्म तोड़कर तीसरी नरक तक आ गये हो।

वासुदेव ने पूछा- प्रभो! वीरक ने क्या लाभ पाया?

श्री नेमीश्वर ने कहा- वासुदेव ! उसने केवल तुम्हारी प्रसन्नता पाने के लिये अनुकरण करते हुए वंदन किया है। उसने पुण्य जरूर कमाया पर श्रद्धा के अभाव में परमार्थ स्वरुप विशेष फल नहीं मिला।

इस दृष्टान्त के अन्तर्गत श्रीकृष्ण कृत द्वादशावर्त्त वंदन भाव कृतिकर्म और वीरक का वंदन द्रव्य कृति कर्म है।

जिज्ञासा- महाराजश्री! हमने शास्त्रों से जाना है कि आयुष्य कर्म में कभी भी वृद्धि और हानि नहीं हो सकती, फिर यहाँ सातवीं से तीसरी नरक तक आने में आयुष्य कम हुआ, वह कैसे सम्भव है ?

कम्मपयडी आदि में स्पष्ट उल्लेख है कि बद्ध आयुष्य उदय में आये बिना कम नहीं हो सकता, परन्तु भगवती सूत्र में श्रीकृष्ण के आयुष्य की न्यूनता का भी कथन है।

दूसरी तरफ यहाँ श्रेणिक राजा का वह प्रसंग भी स्मर्त्तव्य है जब परमात्मा महावीर ने स्पष्ट कहा था कि श्रेणिक! आयुष्य एक बार बन्ध गया तो फिर वह बदल नहीं सकता।

कल्पसूत्र का यह उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र महाराज के द्वारा विनती की गयी कि प्रभो! आपकी राशि पर भस्म ग्रह बैठ रहा है, अत: आप एक पल घटा दे या बढ़ा दें।

परमात्मा महावीर ने कहा था कि इन्द्र! चक्रवर्ती तो क्या, स्वयं तीर्थंकर भी अपना जीवन काल बढ़ाने और घटाने में समर्थ नहीं हैं।

निष्कर्ष का नवनीत इतना ही है कि श्रीकृष्ण वासुदेव के नरक-आयुष्य घटने की घटना को आश्चर्य रूप अपवाद समझना चाहिये।

☯ विनय कर्म और दो राजसेवक

निकटवर्ती दो ग्राम और दोनों का एक-एक सीमा रक्षक। उनमें एक बार सीमा को लेकर वाद-विवाद हो गया।

विवाद का निराकरण करने के लिये दोनों राजदूत राजदरबार की

ओर रवाना हुए। दोनों को रास्ते में मुनिराज के दर्शन हुए।

एक ने सोचा- अहो ! इन त्यागी मुनि के दर्शन मंगल का प्रतीक है। अवश्यमेव मेरी विजय होगी। उसने भाव से वंदन किये। दूसरे राजसेवक ने पहले वाले का मात्र अनुकरण करके द्रव्य वंदन किया।

विजय उसकी हुई, फैसला उसके पक्ष में आया, जिसने भाव वंदना की थी।

☯ पूजा कर्म तथा पालक व शाम्ब

श्रीकृष्ण वासुदेव के अनेक पुत्र थे। एक बार श्रीकृष्ण ने उद्घोषणा की कि मेरे सारे पुत्रों में से प्रभु नेमिनाथ को जो सबसे पहले वन्दना करेगा, उसे उत्तम कोटि का अश्व प्रदान किया जायेगा।

सुबह शय्या से उठते ही शाम्ब कुमार ने हाथ जोड़कर वंदना की, जबकि पालक जल्दी उठकर समवसरण की ओर भागा और प्रभु नेमिनाथ को वंदना की।

श्रीकृष्ण ने प्रभु से पूछा कि आपको सबसे पहले वंदना किसने की?

प्रभु ने कहा कि द्रव्य की अपेक्षा से पालक ने की, पर भावों की अपेक्षा से शाम्ब ने की। पालक के मन में अश्व की लालसा थी, अत: भावधारा में संसार का परिणाम था, पर शाम्ब को अश्व की कोई अभिलाषा नहीं थी। द्रव्य से भले ही उसने पहले नमन न किया, पर सबसे पहला भाव नमन उसका ही था।

सूरोदए पासति चक्खुणेव।

सूत्रकृतांग सूत्र 1/14/13

सूर्य का प्रकाश प्रसारित होने पर भी जिस प्रकार आँख के बिना व्यक्ति देख नहीं पाता, वैसे ही कोई कितना ही चतुर व पण्ड़ित क्यों न हो, पर वह गुरु के निर्देश के अभाव में तत्त्वदर्शन नहीं कर पाता।

तीसरा द्वार
पाँच अवन्दनीय साधु

गाथा

पासत्थो ओसन्नो, कुसील संसत्तओ अहाछंदो।
दुग-दुग-ति-दु-णेगविहा, अवंदणिज्जा जिणमयंमि।।12।।

शब्दार्थ

पासत्थो	- पार्श्वस्थ	दुग	- दो
ओसन्नो	- अवसन्न	ति	- तीन
कुसील	- कुशील	णेगविहा	- अनेक प्रकार के
संसत्तओ	- संसक्त	अवंदणिज्जा	- अवंदनीय
अहाछंदो	- यथाछन्द	जिणमयंमि	- जिनमत में

भावार्थ

शास्त्रों में अवंदनीय साधु के पाँच भेद कहे गये हैं- पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्द। इनके क्रमश: दो, दो, तीन, दो और अनेक प्रकार कहे गये हैं।।12।।

विशेषार्थ

प्रस्तुत गाथा में तीसरे द्वारवर्ती पाँच अवन्दनीय साधुओं का विवेचन किया गया है।

वन्दनीय अर्थात् वन्दन करने योग्य। **'अ'** उपसर्ग **'अयोग्य'** अर्थ को व्यक्त करता है। जो वन्दन/सत्कार/सम्मान के योग्य नहीं हैं, वे अवन्दनीय कहलाते हैं।

1. **पार्श्वस्थ साधु**- पार्श्व अर्थात् निकट। स्थ अर्थात् होना, रहना। जो साधु चारित्र-जीवन उपकरणों के पास रहते हैं, पर उनका कर्म क्षय के लिये उपयोग नहीं करते, वे पार्श्वस्थ साधु कहलाते हैं।

- **ज्ञानोपकरण**- शास्त्र, नवकारवाली, ठवणी, पुस्तक, कागज, कलम, पुट्ठा आदि।
- **दर्शनोपकरण**- स्थापनाचार्य, प्रतिमा आदि।
- **चारित्रोपकरण**- रजोहरण, आसन, मुँहपत्ति आदि।

रत्नत्रयी के उपरोक्त उपकरणों को पार्श्वस्थ साधु पास तो रखते हैं, परन्तु उनका उपयोग नहीं करते। इस कारण उपधि भी उपाधि का कारण बन जाती है। जो मिथ्यात्व आदि के कारण कर्मपाश में बंधते हैं, वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं।

शास्त्रों में दो भेद वर्णित हैं-

(I) **सर्वपार्श्वस्थ**- जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र से सर्वथा रहित हो, उन्हें सर्वपार्श्वस्थ कहते हैं।

(II) **देशपार्श्वस्थ**- जो निम्नोक्त दोषों का सेवन करें, वह देशपार्श्वस्थ।

(1) **शय्यातरपिण्ड** - जिसके घर में रुके हो, उस घर का आहार लेना।

(2) **राजपिण्ड** - राजा अथवा राज्याधिकारियों के घर का भोजन लेना।

(3) **नित्यपिंड** - नित्य एक ही घर से आहार लेना।

(4) **अग्रपिण्ड** - बर्तन में से गृहस्थ ने अपने लिये कुछ भी नहीं निकाला, उससे पहले आहार लेना।

उपरोक्त चार प्रकार के आहार सकारण ग्रहण करने वाला देश पार्श्वस्थ नहीं कहलाता पर बिना कारण लेने वाला देश पार्श्वस्थ कहलाता है।

(5) **कुलनिश्रा** - समुदाय विशेष से ही आहार लेना।

(6) **स्थापना कुल** - गुरु आदि की विशेष भक्ति करने वाले

कुल (समुदाय) से ही आहार लेना।

(7) गृहस्थों के भोजन समारम्भों को खोज-खोजकर उनसे आहार लेना।

(8) गृहस्थ की प्रशंसा करना।

जिज्ञासा- महाराजश्री ! गृहस्थ की प्रशंसा परमात्मा महावीर ने भी की थी, अत: इसे अवंदनीय का लक्षण कहना क्या उचित है ?

समाधान- तुम्हारी जिज्ञासा वास्तव में यथायोग्य है। वीर प्रभु ने कामदेव, कुण्ड़कौलिक, सुलसा, पूणिया आदि गृहस्थों की प्रशंसा की थी, पर उनकी सावद्य प्रवृत्ति की नहीं, अपितु तर्कनिष्ठा, उपसर्ग-तितिक्षा, अविचल-श्रद्धा, सामायिक, संतोष आदि निरवद्य गुणों की प्रशंसा की थी।

गृहस्थ के उन लक्षणों की प्रशंसा निषिद्ध है, जिससे मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद आदि में वृद्धि होती है या इनकी प्रेरणा मिलती है। गृहस्थ के तप-जप, त्याग-वैराग्य आदि गुणों की प्रशंसा गुणहीन को प्रेरणा देने के लिये करनी ही चाहिये।

2. **अवसन्न**- साधु जीवन की समाचारी में खिन्न मन से क्रिया करें या क्रिया में शिथिल हो, वह अवसन्न साधु भी अवन्दनीय कहा गया है। इसके दो भेद कहे गये हैं-

(I) **सर्व अवसन्न**- जो साधु ऋतुबद्ध पीठ फलक का उपभोग करता है और स्थापना व प्राभृतिका दोष से दुष्ट आहार को ग्रहण करता है, वह सर्व अवसन्न कहलाता है।

(अ) **ऋतुबद्ध पीठ फलक** - वर्षा ऋतु में पाट पर संथारा करने का नियम है, पर कदाचित् पाट की उपलब्धि न हो, तब निवार, रस्सी वाले पलंग का उपयोग करना पड़े, तो उसे खोलकर सुबह पड़िलेहण करनी चाहिये, अगर ऐसा न करें तो इस ऋतुबद्ध पीठ फलक दोष से साधु सर्व अवसन्न कहलाता है।

इसके अलावा निम्नोक्त कार्य भी ऋतुबद्ध पीठ फलक दोष कहलाते हैं।

(1) चातुर्मास के अतिरिक्त काल में पाट का उपयोग करें।

(2) दिन में बार-बार शयन हेतु संथारा करें।

(3) रात और दिन संथारा बिछाकर रखें।

2. **स्थापनाभोजी** - गृहस्थ साधु के लिये आहार में से कुछ आहार अलग पात्र में निकालकर रखे, ऐसी स्थिति में आहार ग्रहण करने वाला स्थापनाभोजी कहलाता है।

3. **प्राभृतिकाभोजी** - भक्त श्रावक अपने विशेष पूज्य प्रिय साधु को जो आहार इष्ट हो, ऐसा आहार उसके द्वारा तैयार करके रखने पर लेने वाला प्राभृतिकाभोजी कहलाता है।

2. **देश अवसन्न**- निम्न दोषों वाला देश अवसन्न साधु कहलाता है-

(1) **प्रतिक्रमण** - राइ, देवसी आदि पाँच प्रतिक्रमण न करना।

(2) **प्रतिलेखन** - दो समय पड़िलेहण न करना।

(3) **स्वाध्याय** - दिन के प्रथम-अन्तिम तथा रात्रि के प्रथम-अन्तिम प्रहर में स्वाध्याय न करना।

(4) **भिक्षाचर्या** - निर्दोष आहार की गवेषणा न करना।

(5) **ध्यान** - दिन व रात्रि, दोनों के दूसरे प्रहर में ध्यान न करना।

(6) **उपवास आदि** - पर्व तिथि को यथाशक्ति तप न करना।

(7) **आगमन विधि** - उपाश्रय में प्रवेश करते समय निसीहि न कहना।

(8) **निर्गमन विधि** - उपाश्रय से बाहर निकलते आवस्सहि न कहना।

(9) **स्थान विधि** - खड़े-खड़े विधिपूर्वक कायोत्सर्ग न करना।

(10) बैठते, उठने, शयन में विधि-विवेक न रखना।

उपरोक्त दोषों का पूर्णरूपेण सेवन करने वाला अथवा गुरु के भय, दबाव और संकोच से थोड़ा कम सेवन करने वाला देशत: अवसन्न

कहलाता है।

3. कुशील साधु - शील अर्थात् स्वभाव, आचार और चारित्र। जिसका स्वभाव, शील और आचार गर्हणीय, निन्दनीय और अनादरणीय हो, वह कुशील कहलाता है। इसके तीन भेद कहे गये हैं-

(I) **ज्ञान कुशील** - ज्ञान के जो आठ आचार कहे गये हैं, उनके विपरीत आचार करने वाला ज्ञान कुशील कहलाता है।

(1) स्वाध्याय के काल का बोध न होना (2) अविनय से पढ़ना (3) बहुमान बिना पढ़ना (4) उपधान (योगोद्वहन) बिना शास्त्र पढ़ना (5-7) सूत्र, अर्थ या सूत्रार्थ गलत कहना (8) जिनवाणी के विपरीत बोलना। इन आठ दोषों का सेवन करना ज्ञान कुशीलता है।

(II) **दर्शन कुशील** - सम्यग्दर्शन को संपुष्ट व निर्दुष्ट बनाने वाले आठ आचार न अपनाने वाला दर्शन कुशील है।

जिनवाणी में निश्शंक होना, संघ के गुणीजनों की प्रशंसा करना, धर्मफल में विश्वास करना आदि आचारों को न अपनाने वाला सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कुशील कहलाता है।

(III) **चारित्र कुशील** - संचित कर्मों को रिक्त करने का कार्य चारित्र करता है। चारित्र कुशील के संदर्भ में शास्त्रकार निम्न तथ्य प्रस्तुत करते हैं- (1) यंत्र-तंत्र करना (2) मुख से आग निकालना आदि चमत्कार करना (3) ज्योतिष देखना (4) स्वप्न फल कहना (5) कामण-वशीकरण रूप काली विद्या करना (6) शरीर का शृंगार करना (7) स्त्री-पुरुष के लक्षण कहना।

(4) **संसक्त साधु** - संसक्त अर्थात् संयुक्त। यदि प्रश्न करें कि किससे किसका संयुक्त होने पर साधु अवन्दनीय हो जाता है तो कहना चाहिये कि गुणों में दोषों का आ जाना।

जैसे दुध में खट्टे पदार्थ के मिलने पर और मधुर जल से लवण का योग होने पर दूध और जल अपेय हो जाते हैं, वैसे ही पंच महाव्रतों और रात्रिभोजन त्याग आदि उत्तर गुणों में दुर्गुणों, दोषों और दुराचारों

की मिलावट होने पर साधु अवन्दनीय हो जाता है।

संयम जागरुकता की साधना है। इसी कारण साधु को नित्य अप्रमत्त रूप से आत्मध्यान में विचरण करना होता है। कहीं क्षमा के अमृत में क्रोध का जहर न मिल जाये। कहीं विनय की शुभ्र चादर में मान का काला दाग न लग जाये। कहीं तपश्चर्या के भावों में निदान का भाव न जग जाये। अत: गुणों को सम्हालकर रखना होता है।

इतिहास उदाहरणों से समृद्ध है-

- उग्र आलोचना लेकर तीव्र तप करने पर भी माया के कारण साध्वी लक्ष्मणा का संसार बढ़ा।
- गीतार्थ होने पर भी रस-आसक्ति के कारण मंगू आचार्य निम्न कोटि के देव बने।
- स्वाध्याय का सद्गुण होने पर भी ईर्ष्या के कारण पीठ-महापीठ स्त्री बने।

जब ज्ञान और दान का अभिमान जगने लगे, जब जप और तप में श्लाघा की भूख लगने लगे, जब शिक्षा और दीक्षा में प्रमाद आने लगे, तब साधुता की सुधा में विराधना का विष मिल जाता है।

शास्त्रों में संसक्त साधु के दो भेद बताये गये हैं-

(1) **संक्लिष्ट संसक्त** - जो प्राणातिपात आदि पंचाश्रवी हो, जिसे रस, ऋद्धि और शाता का गर्व हो, जो स्त्री-भोग आदि दोषों से युक्त हो, वह संक्लिष्ट संसक्त साधु कहलाता है।

(2) **असंक्लिष्ट संसक्त** - 'गंगा गये तो गंगाराम और यमुना गये तो यमुनाराम' और 'बिन पेंदे के लोटे' इन दोनों उक्तियों को चरितार्थ करने वाला साधु असंक्लिष्ट संसक्त कहलाता है।

जो पार्श्वस्थ आदि अवन्दनीय साधुओं के पास जाता है, तब उनकी शिथिलता को अपना लेता है तथा संविग्न समाचारी वाले साधुओं के पास आकर आचार-विचार से शुद्ध बन जाता है, वह असंक्लिष्ट संसक्त साधु कहलाता है।

5. **यथाछंद साधु** - यथाछंद अर्थात् आगम की उपेक्षा करके निज कल्पना के आधार पर चलने वाला यथाछंदी कहलाता है। आचारांग सूत्र में कहा गया - **'छन्देण उवेइ मोक्खं'** स्वच्छन्दता का त्याग करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उत्सूत्र प्ररूपणा करना, गृहस्थ के कार्य सम्पन्न करना, शास्त्रों के मनमाने अर्थ करना, साधु अथवा शिष्य के द्वारा अल्प अपराध होने पर महाक्रोध करना, पुन: पुन: क्रोध करना, घृत, दुग्ध आदि विकृतियों का अनावश्यक सेवन करना, कष्ट सहन न करके सुखशीलता का जीवन जीना, अपने, चमत्कार का अभिमान करना, रसों में आसक्त होकर गर्व करना, शारीरिक स्वास्थ्य का घमण्ड़ करना इत्यादि कुलक्षणों से युक्त साधु को यथाछंद कहा गया है।

☯ अवन्दनीय साधु को वंदना अनर्थकारी

गुणों का पक्षपात करना साधक का लक्षण है। जब संसार में भी व्यक्ति जन्मदाता आदि उपकारी व अन्य लोगों में भेदभाव रखा जाता है। लौकिक स्वार्थी की बजाय लौकिक परमार्थी (परोपकारी) का यशोगान किया जाता है, तब फिर अलौकिक जगत् में गुणों का पक्षपात हो तो कोई आश्चर्य भी नहीं, आक्षेप भी नहीं और अनर्थ भी नहीं।

एक महिला लवण और चीनी के गुणों में पक्षपात करती है, एक व्यापारी पचास और सौ के नोट में पक्षपात करता है, एक अधिकारी असली और नकली अपराधी में भेदभाव करता है, तो मोक्षमार्ग में साधक-विराधक के प्रति गुणों का पक्षपात होना ही चाहिये।

अनेक लोग कहते हैं कि हम गुणों को तो जान सकते नहीं कि किसमें सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं और किसमें नहीं, अत: साधुवेश को देखकर वंदना करते हैं। हमें उनके आचार-विचार से क्या लेना और देना ?

शास्त्रकारों का कथन है कि यदि ऐसा है तो फिर साधुवेश से सम्पन्न जमाली आदि मिथ्यात्वियों को भी वंदना करनी पड़ेगी।

जो पार्श्वस्थ आदि पाँच अवंदनीय तथा अन्य संविग्न आदि

वंदनीय, दोनों साधुओं को समान मानता है, वह अमृत और जहर को समान मानने जैसा अक्षम्य अपराध करता है।

आवश्यक निर्युक्ति में इस संदर्भ में विस्तृत रूप से व्याख्या प्राप्त होती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि पार्श्वस्थ आदि पाँच अवंद्य साधुओं को वंदन करने से कर्मनिर्जरा नहीं अपितु कायक्लेश के साथ-साथ कर्मबन्धन होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि साधु वेश को वंदनीय न मानें तो छद्मस्थ यह कैसे जानेगा कि कौन सुसाधु है और कौन असाधु है?

समाधान के पक्ष में कहा गया कि जो साधु अपरिचित हो, उनका तो प्रथम दर्शन में अभ्युत्थान, सत्कार आदि करना ही चाहिये ताकि श्रावक पर अविनीत होने का आक्षेप न लगे तथा बिना कसौटी पर कसे निष्कर्ष देने का दोष भी न लगे। पर जब उनकी प्रवृत्ति आदि से वंद्य-अवंद्य का स्पष्ट रूप से भेद विज्ञान हो जाये, तब उनमें वंदन आदि का पक्षपात करना चाहिये। यदि जानने के बाद भी वंद्य के साथ अवन्दन-व्यवहार एवं अवंद्य के साथ वंदन-व्यवहार करता है तो मिथ्यादृष्टि बनकर संसार में परिभ्रमण करता है।

●●●

जो छंदमाहयइ स पुज्जो।

दशवैकालिक सूत्र 9/3/1

जो गुरु की भावनाओं का आदर करता है, वह शिष्य पूज्य होता है।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य।

दशवैकालिक सूत्र 9/2/22

अविनयी विपत्तियों को प्राप्त करता है और विनयी सम्पत्तियों का मालिक बनता है।

चौथा द्वार
पाँच वन्दनीय साधु

गाथा

आयरिय उवज्झाए, पवत्ति थेरे तहेव रायणिए।
किइकम्म निज्जरट्ठा, कायव्वमिमेसिं पंचण्हं।।13।।

शब्दार्थ

आयरिय	- आचार्य	रायणिए	-रत्नाधिक
उवज्झाए	- उपाध्याय	किइकम्म	- कृतिकर्म, वन्दन
पवत्ति	- प्रवर्तक	निज्जरट्ठा	- निर्जरा के लिये
थेरे	- स्थविर	कायव्वं	- करना चाहिये
तहेव	- इसी तरह	इमेसिं पंचण्हं	- इन पाँचों को

भावार्थ

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर एवं रत्नाधिक को कर्मनिर्जरा के लिये वन्दन करना चाहिये।।13।।

विशेषार्थ

प्रस्तुत गाथा में वन्दनीय पाँच व्यक्तित्व उल्लिखित हैं-

1. **आचार्य** - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, इन पाँच आचारों का पालन करने वाले आचार्य कहलाते हैं। 'गच्छाचार पयन्ना' में आचार्य को तीर्थंकर भगवान की अनुपस्थिति में तीर्थंकर प्रभु के तुल्य कहा गया है।

जिज्ञासा - आचार्य सूत्र और अर्थ, दोनों के ज्ञाता होते हैं, परन्तु अर्थ की ही वांचना देते हैं, ऐसा क्यों ?

समाधान- यदि आचार्य भगवंत को सूत्रों की भी वाचना का दायित्व दिया जाये तो इसमें अधिकांश समय का व्यय होने से उन्हें सूत्र के अर्थ-चिन्तन हेतु पर्याप्त समय नहीं मिल पायेगा। अत: आचार्य मात्र अर्थ की वाचना देते हैं।

2. **उपाध्याय**- जो आचार्य बनने की योग्यता के धारक होते हैं तथा सूत्र-अर्थ, दोनों के ज्ञाता होने पर भी मात्र सूत्र की ही वाचना देते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। इनका अपर नाम वाचक व पाठक भी है।

जिनशासन आचार्य भगवंतों के साथ-साथ महान् ज्ञानी-ध्यानी उपाध्याय भगवंतों से भी सुसमृद्ध रहा है।

वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी ने तत्त्वार्थ सूत्र, प्रशमरति जैसे दिव्य ग्रन्थों की रचना की। जिनपालोपाध्याय ने खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, सनत्कुमार चक्री चरित महाकाव्य जैसी अनेक महान् कृतियाँ प्रस्तुत की। दादा जिनकुशलसूरि के शिष्य विनयप्रभोपाध्याय ने गौतम स्वामी का रास रचा।

चार सौ अधिक काव्य रचने वाले धर्मवर्द्धनोपाध्याय एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति रचयिता श्री पुण्यसागरोपाध्याय के साथ महोपाध्याय समयसुन्दरजी म.सा. का नाम भी शासन-नभ में चमकता सितारा है। उनके द्वारा विरचित सैंकड़ों काव्य, मौलिक ग्रन्थ, वृत्तियाँ उनके व्यक्तित्व को उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ करती है।

प्रथम स्नात्र पूजा रचनाकार एवं आनंदजी कल्याणजी पेढी की स्थापना करने वाले उपाध्याय श्री देवचन्द्रजी म.सा. प्रौढ़ द्रव्यानुयोगी थे। उपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. नव्यन्याय प्रणेतार के रूप में प्रसिद्ध हैं। श्री क्षमाकल्याणोपाध्याय 19वीं शताब्दी के परम विद्वान् संत थे।

3. **प्रवर्तक** - ज्ञान-ध्यान, प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन, जप-तप आदि में साधुओं को प्रवर्तित करने वाले प्रवर्तक कहलाते हैं।

4. **स्थविर** - कदाचित् किसी कारण से मुनि जीवन की सरस साधना में निरसता का अनुभव होने लगे, अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों में आत्म-भाव गिरने लगे, गृहस्थ काल के भोगों की स्मृतियाँ व्याकुल करने लगे, तब मुनियों को साधना के मार्ग में स्थिर करने वाले स्थविर कहलाते हैं।

व्यवहार सूत्र, पंचाशक प्रकरण आदि में तीन प्रकार के स्थविर कहे गये हैं-

(1) **ज्ञान स्थविर**- बौद्धिक कौशल एंव प्रकृष्ट प्रतिभा से जो स्थानांग, समवायांग आदि आगमों के ज्ञान में सुनिपुण हैं, वे ज्ञान स्थविर कहलाते हैं।

(2) **दीक्षा स्थविर**- चारित्र प्राप्ति में बीस वर्ष व्यतीत होने पर साधु दीक्षा स्थविर कहलाता है।

(3) **वय स्थविर**- 60 वर्ष की उम्र वाले साधु वय स्थविर कहलाते हैं। इसे जाति स्थविर भी कहते है।

(5) **रत्नाधिक**- जो रत्नत्रयी में अधिक हो, उसे रत्नाधिक कहते हैं।

गुरुवंदन भाष्य की अवचूरि में रत्नाधिक को गणावच्छेदक भी कहा गया है।

जो सूत्रार्थ को जानते हैं तथा गच्छ के विकास-विस्तार हेतु क्षेत्र, उपधि के लाभार्थ विचरण करते हैं, वे गणावच्छेदक कहलाते हैं।

आचार्य आदि पाँचों को अनुक्रम से वंदन करना चाहिये। दीक्षा पर्याय में न्यून होने पर भी पदस्थ साधु कर्मनिर्जरा हेतु अधिक दीक्षा पर्याय वाले साधु के लिये वन्दनीय है।

इन चार के सिवाय रत्नाधिक में दीक्षा पर्याय के क्रम से परस्पर वन्दन व्यवहार होना चाहिये। ऐसा वर्णन आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति में प्राप्त होता है। वृहत्कल्पसूत्र में कहा गया है - '**कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहाराइणियाए किइकम्मं करेत्तए**' चारित्र पर्याय के क्रमानुसार ज्येष्ठ साधु-साध्वी को वंदन करना चाहिए।

पाँचवाँ-छठवाँ द्वार
वन्दन अकर्ता एवं कर्ता

गाथा

माय पिय-जिट्ठ भाया, ओमावि तहेव सव्वरायणिए।
किइकम्मं न कारिज्जा, चउसमणाई कुणंति पुणो।।14।।

शब्दार्थ

माय-पिय	- माता-पिता	किइकम्मं	- कृतिकर्म, वंदन
जिट्ठ भाया	- ज्येष्ठ भ्राता	न कारिज्जा	- न करवाएँ
ओमावि	- इस प्रकार और भी	चउसमणाई	- चार श्रमण
तहेव	- इसी प्रकार	कुणंति	- करते हैं।
सव्वरायणिए	- समस्त रत्नाधिक	पुणो	- पुन:

भावार्थ

दीक्षित माता, दीक्षित पिता, दीक्षित ज्येष्ठ भ्राता एवं रत्नाधिक (जो ज्ञान आदि के क्षेत्र में निपुण हो) से वन्दन नहीं करवाना चाहिये। 'ओमावि' पद से दादा, दादी, नाना, नानी आदि के दीक्षा पर्याय में कनिष्ठ होने पर भी वन्दन नहीं करवाना' यह अर्थ ध्वनित होता है।।14।।

वन्दन करवाने के अर्थ में शास्त्रकार कहते हैं कि श्रमण को साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका, इन चारों के वन्दन झेलने का कर्त्तव्य हैं।

विशेषार्थ

यद्यपि निश्चय धर्म मुख्य है, फिर भी लोक-मानस व्यवहार से गतिमान एवं प्रभावित होता है। माता-पिता, ज्येष्ठ भाई आदि बाद में दीक्षित हो तब भी उनके उपकारों के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति हेतु उनके द्वारा वंदन नहीं करवाने का विधान है। माता-पिता आदि से वंदन करवाने से अन्य लोगों में जैन धर्म की निंदा भी होती है तथा कृतज्ञता गुण का लोप होता है, अत: ऐसा विधान किया गया है।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि जब छोटे भाई को बड़े भाई के द्वारा वंदन नहीं करवाना चाहिये तो फिर बाहुबली के मन में ऐसा विचार क्यों आया कि अभी समवसरण में नहीं जाना क्योंकि वहाँ छोटा भाई को वंदना करनी पड़ेगी!

इसका समाधान यह है छोटे भाई को अगर केवलज्ञान हो जाये तो ज्येष्ठ भ्राता वंदना करता ही है। यदि दोनों छद्मस्थ है तो मुनि अपने से पर्याय में कनिष्ठ होने पर माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि से वंदन नहीं करवाता। आवश्यक निर्युक्ति की वृत्ति में लिखा है कि माता, पिता, भ्राता वंदन करते हैं तो प्रायश्चित्त, वाचना आदि के लिए ही करते हैं पर उस समय भी लोगों की उपस्थिति नहीं होती।

साधु को कौन वंदन कर सकते हैं? इस सवाल के जवाब में भाष्यकार कहते हैं कि कनिष्ठ साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका, चारों वंदन कर सकते हैं।

•••

आयरियस्स वि सीसो
सरिसो सव्वे हि वि गुणेहिं

उत्तराध्ययन निर्युक्ति 58

यदि शिष्य गुण सम्पन्न है तो वह अपने आचार्य के समकक्ष माना जाता है।

सातवाँ द्वार
पाँच स्थान पर वन्दन नहीं

गाथा

विक्खित्त पराहुत्ते अ, पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा।
आहारं नीहारं, कुणमाणे काउकामे अ।।15।।

शब्दार्थ

विक्खित्त	- विक्षिप्त	वंदिज्जा	- वंदनीय
पराहुत्ते	- पराङ्गमुख	आहार	- आहार
अ पमत्ते	- और प्रमत्त	नीहारं	- पंचमी (स्थंडिल)
मा	- नहीं	कुणमाणे	- करते हुए
कयाइ	- कभी भी	काउकामे अ	- करने की कामना वाले

भावार्थ

जब गुरु भगवंत व्याक्षिप्त चित्त वाले, परामुख और प्रमत्त हो तथा आहार आदि करते हो या करने की इच्छा वाले हो, तब वन्दन नहीं करना चाहिये।।15।।

विशेषार्थ

गुरु महाराज को पाँच स्थितियों में वन्दन नहीं करना चाहिये-

1. **व्याक्षिप्त** - जब शासन-प्रभावना एवं धर्मकार्य की चिन्ता में हो।
2. **पराङ्गमुख** - जब स्वाध्याय आदि कारणों से वन्दन करने वाले पर उनका ध्यान न हो।
3. **प्रमत्त** - कारणवशात् क्रोध आदि प्रमाद से ग्रस्त हो।
4. **आहार** - आहार कर रहे हो या इस हेतु वे प्रयत्नशील हो।
5. **नीहार** - लघुनीति, बड़ीनीति के लिये गमन कर रहे हो।

आठवाँ द्वार
चार स्थान पर वन्दन

गाथा

पसंते आसणत्थे अ, उवसंते उवट्ठिए।
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजइ।।16।1

शब्दार्थ

पसंते	- प्रशान्त	अणुन्नवित्तु	- अनुज्ञा मांगकर
आसणत्थे	- आसन पर स्थित	मेहावी	- मेधावी
अ उवसंते	- और उपशान्त	किइकम्मं	- कृतिकर्म, वन्दन
उवट्ठिए	- उपस्थित	पउंजइ	- करे

भावार्थ/विशेषार्थ

आज्ञा प्राप्त करके चार स्थितियों में गुरुवन्दन करना चाहिये-

1. **प्रशान्त** - जब गुरु भगवंत के मन में व्यग्रता, आकुलता एवं व्याकुलता न हो।

2. **आसनस्थ** - वे अपने आसन पर उपस्थित हो। गमनागमन आदि क्रिया न कर रहे हो।

3. **उपशान्त** - क्रोधादि की उग्रता से मुक्त उपशान्त भावना में हो।

4. **उद्यत** - वंद्यमाण शिष्य को प्रत्युत्तर में **'छन्देण'** इत्यादि वचन कहने में तत्पर हो।

नौवाँ द्वार
वंदन के आठ कारण

गाथा

पडिकमणे सज्झाए, काउसग्गा-वराह-पाहुणए।
आलोयण संवरणे, उत्तम (अ) ट्ठे य वंदणयं।।17।।

शब्दार्थ

पडिकमणे	- प्रतिक्रमण हेतु	आलोयण	- आलोचना
सज्झाए	- स्वाध्याय हेतु	संवरणे	- प्रत्याख्यान
काउसग्ग	- कायोत्सर्ग हेतु	उत्तम	- उत्कृष्ट
अवराह	- अपराध-क्षमा हेतु	(अ) ट्ठे	- प्रयोजन
पाहुणए	- मेहमान साधु	य वंदणयं	- वंदन

भावार्थ

प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, अपराध-क्षमा, प्राघूर्णक मुनि, आलोचना, प्रत्याख्यान और संथारा (अनशन) आदि के लिये वंदना करनी चाहिये।।17।।

विशेषार्थ

उपरोक्त गाथा में वन्दन करने आठ कारणों का उल्लेख किया गया है-

1. **प्रतिक्रमण** - प्रतिक्रमण में चार बार जो दो-दो वंदनक दिये जाते हैं, वह प्रतिक्रमण हेतु वंदन कहलाता है।

2. **स्वाध्याय** - प्रवचन, आगम, शास्त्र के सूत्र व अर्थ श्रवण रूपी वाचना स्वाध्याय, जिज्ञासा-समाधान रूपी पृच्छना स्वाध्याय तथा

पुराना पाठ सुनाने रूपी परावर्तना स्वाध्याय करने से पहले विनय स्वरूप वंदन किया जाता है तथा स्वाध्याय के सम्पन्न होने पर कृतज्ञता-ज्ञापनार्थ वंदन किया जाता है।

विनम्रता और कृतज्ञता समस्त सम्पत्तियों का मूल है और अहंकार तथा कृतघ्नता समस्त आपत्तियों की जड़ है, अत: वन्दन व्यवहार को प्रथम आचार मार्ग कहा गया है।

3. **कायोत्सर्ग** - योगोद्वहन व कायोत्सर्ग आवश्यक की प्रक्रिया के दौरान कायोत्सर्ग के लिये वन्दन किया जाता है।

4. **अपराध-क्षमा** - गुरु के प्रति कृत अपराध को खमाने हेतु वंदन किया जाता है।

5. **मेहमान साधु** - समान समाचारी वाले ज्येष्ठ साधुओं के आने पर गुरु से पूछकर वंदन किया जाता है तथा असमान समाचारी वाले ज्येष्ठ मेहमान मुनि को गुरु द्वारा आदेश मिलने पर वंदन किया जाता है।

6. **आलोचना** - अतिक्रम-व्यतिक्रम एवं अतिचार-अनाचार के प्रायश्चित्त एवं आलोचना की याचना के लिये वंदन किया जाता है।

आवश्यक वृत्ति में कहा गया है- **"आलोचनायां विहारापराधभेद-भिन्नायां"** विहार के समय किया जाने वाला वन्दन भी आलोचना स्वरूप कारण में समाहित होता है।

7. **प्रत्याख्यान** - उपवास, आयम्बिल, एकासन आदि के प्रत्याख्यान लेने हेतु वंदन किया जाता है। आयम्बिल, एकासन आदि छोड़ने के बाद कम आगार वाले तिविहार, दिवस चरिम आदि पच्चक्खाण के लिये भी वंदन किया जाता है।

8. **उत्तम कार्य** - जो भी उत्तम आत्मकार्य किये जाते हैं, उनके लिये भी गुरु वंदन किया जाता है। उत्तम कार्यों में संथारा (अनशन) आदि को गिना गया है।

इनमें से कुछ वंदन नियमित रूप से किये जाते हैं, जैसे प्रत्याख्यान, स्वाध्याय आदि। संथारे आदि से संबद्ध अनियमित वंदन कहे गये हैं।

दसवाँ द्वार
पच्चीस आवश्यक

गाथा

दोऽवणयमहाजायं, आवत्ता बार चउसिर तिगुत्तं।
दुपवेसिग निक्खमणं, पणवीसावसय किइकम्मे।।18।।

शब्दार्थ

दो	- दो	तिगुत्तं	- तीन गुप्तियाँ
अवणय	- अवनत	दुपवेस	- दो प्रवेश
अहाजायं	- यथाजात	इग निक्खमणं	- एक निष्क्रमण
आवत्ता	- आवर्त्त	पणवीस	- पच्चीस
बार	- बारह	आवसय	- आवश्यक
चउसिर	- चार शीर्ष	किइकम्मे	- वंदन में

भावार्थ

द्वादशावर्त्त वन्दन में पच्चीस आवश्यक करने योग्य हैं- दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त्त, चार शीर्ष, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण।।18।।

विशेषार्थ

आवश्यक वह है, जो अवश्यमेव करने योग्य हो। गुरुवन्दन में पच्चीस प्रकार के कार्य आवश्यक रूप से करणीय हैं।

1. **दो अवनत**- अवनत अर्थात् झुकना, नमन करना। वंदन की इच्छा को प्रकट करने के लिये **'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए**

निसीहिआए' ये पाँच पद कहने पर जो किंचित् रूप से शरीर सहित मस्तक को झुकाया जाता है, वह अवनत कहलाता है। 'अहो कायं काय' वाला वन्दन दो बार होने से दो अवनत कहे गये हैं।

2. **एक यथाजात**- यथा-अर्थात् जैसे, जात/जन्म। जब वांदणा का पाठ बोला जाता है, तब उत्कटिकासन में बैठा जाता है, वह यथाजात मुद्रा ही यथाजात आवश्यक कहलाता है।

यथाजात मुद्रा इसलिये है कि माता की कुक्षि से निकला, तब भव जन्म हुआ और एक बार संसार की माया रूप कुक्षि से बाहर निकला, तब साधु जन्म हुआ। इस कारण साधु को द्विज भी कहा गया है। पर सच्चा जन्म और जीवन साधु बनने पर होता है।

जिज्ञासा - वांदणे के समय यथाजात मुद्रा क्यों की जाती है ?

समाधान - जब एक शिशु का जन्म होता है, तब वह कपाल को दोनों हथेलियों से छुआ हुआ होता है, वह यथाजात मुद्रा है। जन्म द्वारा जीवन की प्राप्ति और गुरुवंदन द्वारा मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। गुरुवंदन मुनि को जन्म देता है, अत: उस समय यथाजात मुद्रा की जाती है।

3. **बारह आवर्त्त** - वांदणा के सूत्र में 'अहो कायं काय' एवं 'जत्ता भे जवणिज्जं च भे', इन पदों के उच्चारण काल में विशिष्ट शारीरिक क्रिया को आवर्त्त कहा गया है।

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में वांदणा स्वरूप गुरुवंदन में बारह आवर्त्त इस प्रकार होते हैं-

1. अहो 2. कायं 3. काय 4. जत्ता भे 5. जवणि 6. ज्जं च भे, ये छह आवर्त्त करके आवस्सिआए पदोच्चारण के साथ अवग्रह से बाहर आना होता है तथा पूरा सूत्र बोला जाता है। पुन: वांदणा देते समय निसीहि पद के उच्चारण के साथ गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते हैं, तब उपरोक्त आवर्त्तों को पुन: दोहराया जाता है। इस प्रकार बारह आवर्त्त होते हैं।

जिज्ञासा - खरतरगच्छ की परम्परा में वांदणा देते समय मुँहपत्ति खुली क्यों रखी जाती है?

समाधान - मुँहपत्ति खुली रखने पर उसके मध्य में एक सीधी लकीर प्रतीत होती है, जिससे मुँहपत्ति में विभक्त दो भागों में गुरु महाराज के दो चरणों की कल्पना की जाती है।

जिज्ञासा - गुरु भगवंत मुँहपत्ति को खोलकर क्यों नहीं रखते ?

समाधान - गुरु भगवंत के रजोहरण पर ड़ोरा बंधा होता है, उससे दो भाग होने से उसमें दो चरणों की कल्पना करके बारह आवर्त्त का विधान किया जाता है, अत: साधु भगवंत मुँहपत्ति खोलकर नहीं रखते।

4. **चार शीर्ष** - शीर्ष का अर्थ होता है- मस्तक। गुरुवंदन करते समय 'संफासं' पद के उच्चारण काल में मुनि भगवंत (शिष्य) दो बार शीर्ष नमन करते हैं तथा उनके नमन का आदर-सत्कार एवं स्वीकार स्वरूप गुरु भी दो बार किंचित् शीर्ष झुकाते हैं।

जब शिष्य **'खामेमि खमासमणो देवसियं'** इन पदों का उच्चारण करता है, तब गुरुवर **'अहमवि खामेमि तुमं'** का उच्चारण करते हैं। ये दोनों पदोच्चारण दो वांदणे के हिसाब से दो-दो बार होने से चार शीर्ष नमन हो जाते हैं।

5. **त्रिगुप्ति** - वंदन करते समय मन, वचन एवं काया की एकाग्रता एवं पवित्रता जरूरी है।

मात्र एकाग्रता भी उपयोगी नहीं क्योंकि बगुले और शिकारी में एकाग्रता होने पर भी पवित्रता के अभाव में वह कर्मबंधन करता है और मात्र पवित्रता क्रियाविहीनता को प्रेरित करती है, अत: द्रव्य एवं भाव, दोनों की शुद्धि तथा एकाग्रता के साथ पवित्रता का समन्वय ही मोक्षमार्ग का परम पाथेय है।

गुप्ति अर्थात् संगोपन करना, अच्छी तरह छिपाना। यह तीन प्रकार की है- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

मन से गुरुवंदन के सूत्र के अर्थ का चिन्तन करना, वचन से गुरुवन्दन के सूत्रोच्चारण की स्पष्टता एवं शुद्धता पर ध्यान देना तथा काया से वंदन सम्बन्धित आवर्त्त आदि करना, यह त्रिगुप्ति का विधान है।

6. **दो प्रवेश** - पहले वांदणे में गुर्वाज्ञापूर्वक उनके अवग्रह में प्रवेश करना तथा अवग्रह से बाहर निकलने के बाद दूसरे वांदणे में पुन: गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते समय आज्ञा को स्वीकार करना। ये दो प्रवेश कहलाते हैं।

7. **एक निष्क्रमण** - गुरु के अवग्रह से बाहर निकलना निष्क्रमण कहलाता है।

जिज्ञासा - वंदन के अन्तर्गत प्रवेश दो बार कहे गये तो फिर निष्क्रमण एक बार ही क्यों ?

समाधान - पहले वांदणे में **'निसीहि'** पदोच्चारण के साथ गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते हैं और **'आवस्सियाए'** पद के साथ पुन: बाहर आ जाते हैं। इसी तरह दूसरी बार पुन: **'निसीहि'** पद उच्चारण के साथ गुरु-अवग्रह में प्रवेश करते हैं, पर बाहर नहीं निकलते। अत: दो वांदणों में **'निसीहि'** पद दो बार बोला जाता है जबकि **'आवस्सियाए'** पद एक बार बोला जाता है। इस कारण प्रवेश दो बार तथा निष्क्रमण एक बार होता है।

●●●

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा।

उत्तराध्ययन सूत्र 1/9

गुरुजनों द्वारा अनुशासित होने पर क्रुद्ध न हो।

वाएण विणापोओ, न चएइ महण्णवं तरिउं।

आवश्यक निर्युक्ति 95

अच्छे से अच्छा जलयान भी वायु के बिना सागर को पार नहीं कर सकता, वैसे ही योग्य होने पर भी शिष्य स्वयं संसार को पार नहीं कर सकता। उसे योग्य निर्देशक रूप गुरु की जरूरत होती ही है।

कर्म-निर्जरा नहीं

गाथा

किइकम्मं पि कुणंतो, न होइ किइकम्मनिज्जराभागी।
पणवीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहंतो।।19।।

शब्दार्थ

किइकम्मं	- वंदन	पणवीसां	- पच्चीस
पि कुणंतो	- करता हुआ (भी)	अन्नयरं	- अन्यत्र
न होइ	- नहीं होती है	साहू	- साधु
किइकम्म	- कृतिकर्म से	ठाणं	- स्थान
निज्जरा	- निर्जरा का	विराहंतो	- विराधना करता हुआ
भागी	- भागी		

भावार्थ

गुरुवंदन करते हुए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, उपरोक्त पच्चीस आवश्यकों में से एक भी आवश्यक की विराधना/अवहेलना/अनादर/अविधि करता है तो उसके कर्मनिर्जरा नहीं होती।।19।।

विशेषार्थ

वंदन में शक्ति अपार है। बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रयाण का परम सौभाग्य वंदन द्वारा ही प्राप्त होता है।

वंदन में श्री कृष्ण के, मन वचन काया योग।
चार नरक को तोड़कर, काटा भव-दुःख रोग।।

बाहुबली अभिमान में, हो गये मिथ्या अंध।
आदिनाथ की भावना, बरसी परम सुगंध।।

यह भी विनय की महिमा थी, जब श्रेणिक सम्राट् सिंहासन से नीचे उतरे, तभी उन्नामिनी व अवनामिनी विद्याएँ सिद्ध हो पायी।

वंदन से हो कर्म निकंदन।
वंदन काटे भव-भव-बंधन।।

1. वंदन में मन-नयन गुरुमुख पर केन्द्रित हो।
2. वंदन करते समय इधर-उधर न देखें।
3. वंदन में दर्शन की विनम्रता हो, न कि प्रदर्शन का अहंकार।
4. वंदन की क्रिया में विधि-शुद्धि के साथ भावशुद्धि भी हो।
5. वंदन सांसारिक प्रलोभन के हेतु से नहीं हो।
6. वंदन में जल्दबाजी न हो।
7. वंदन पाठ अस्पष्ट व अशुद्ध उच्चारण वाला न हो।

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।।

आचारांग सूत्र 1/2/6

निस्पृह उपदेष्टा जिस प्रकार सम्पन्न को उपदेश देता है, उसी प्रकार विपन्न को भी देता है और जैसे तुच्छ को ज्ञान देता है, वैसे ही पुण्यशाली को भी देता है अर्थात् वह धनवान और निर्धन, दोनों प्रति समभाव रखता है।

ग्यारहवाँ द्वार
मुँहपत्ति की 25 प्रतिलेखनाएँ

गाथा

दिट्ठिपडिलेह एगा, छ उड्ढ पप्फोड तिगतिगंतरिया।
अक्खोड पमज्जणया, नव नव मुहपत्ति पणवीसा।।20।।

शब्दार्थ

दिट्ठि	- दृष्टि	अन्तरिया	- अन्तराल में
पडिलेह	- प्रतिलेखन	अक्खोड़	- आस्फोटक
एगा	- एक	पमज्जणया	- प्रमार्जना
छ उड्ढ	- छह उर्ध्व	नव-नव	- नौ-नौ
पप्फोड	- पुरिम/पप्फोड़ें	मुहपत्ति	- मुखवस्त्रिका
तिग-तिग	- तीन-तीन को	पणवीसा	- पच्चीस

भावार्थ

एक दृष्टि पडिलेहण, 6-6 उर्ध्व पुरिम (पप्फोड़ें) और तीन-तीन के अन्तर में 9 आस्फोटक (अख्खोड़ें) तथा 9 प्रस्फोटक (प्रमार्जना-पख्खोड़ें), इस प्रकार मुँहपत्ति की 25 प्रतिलेखना होती हैं।।20।।

विशेषार्थ

गुरुवंदन हेतु आज्ञा प्राप्त करके खमासमण देने के बाद उत्कटिकासन में बैठकर जब मुँहपत्ति की पडिलेहण करें, तब 25 प्रकार की प्रतिलेखना करनी चाहिये-

1. **एक दृष्टि पडिलेहण** - मुँहपत्ति के पटल को खोलकर देखना दृष्टि प्रतिलेखन है। इस प्रक्रिया के दौरान उस पर कोई भी जीव-जन्तु दृष्टिगत हो तो उसकी जयणा करें। उसे उचित एवं निरवद्य स्थान पर रखें। उस समय 'सूत्र' इतना ही बोलें।

2. **छह उर्ध्व पुरिम** - छह उर्ध्व पुरिम को उर्ध्व प्रस्फोटक और पप्फोड़ा भी कहते हैं। मुँहपत्ति को खोलने पर उसे एक बार घूमाने के बाद जब 'अर्थ-तत्त्व करी सद्दहुं' बोल बोला जाये, उसके बाद मुँहपत्ति को घूमाते हुए प्रतिलेखना के समय सम्यक्त्व मोहनीय आदि तीन दोषों के त्याग-स्वरुप भाग तीन बार खंखेरना तीन पुरिम कहलाते हैं। उसके बाद मुँहपत्ति को घूमाने पर काम राग आदि तीन के त्याग स्वरुप तीन बोल बोलते हुए तीन बार पुन: खंखेरना तीन पुरिम कहलाते हैं। ये छह उर्ध्वपुरिम कहलाते हैं।

3. **नौ आस्फोटक** - पुरिम होने के बाद अख्खोड़े की प्रक्रिया होती है। अख्खोड़े को आस्फोटक भी कहते हैं। पुरिम के बाद मुँहपत्ति के बीच का भाग मध्य भाग से समेट ले, उसके तुरन्त बाद दायें (राईट) हाथ की अंगुलियों के बीच डालें, जिसे वधूटक कहते हैं।

जैसे स्त्री जब घूंघट निकालती है, तब आगे का भाग लटकता हुआ, इकट्ठा हुआ होता है, वह वधूटक कहलाता है।

इसी तरह 4 अंगुलियों के बीच मुँहपत्ति के 3 सल (प्लेट्स) बनाकर उसमें दबाना वधूटक कहलाता है।

उसके बाद तीन वधूटक बायें (लेफ्ट) हाथ की हथेली से कोहनी तक ले जाना, पुन: नीचे लाना और तीन बार खंखेरना, इस प्रकार तीन बार प्रक्रिया अपनाते हुए यह ध्यान रखना कि मुँहपत्ति को हथेली से कोहनी की ओर ले जाते हुए उसका हाथ से स्पर्श न हो और कोहनी से हथेली की ओर लाते हुए हाथ का स्पर्श हो।

जब मुँहपत्ति को तीन-तीन बार उपर लेते हैं, वे अक्खोडा (आस्फोटक अथवा आखोटक) कहलाते हैं।

4. **नौ प्रमार्जना** - उपरोक्त प्रक्रिया के दौरान कोहनी तक ले जायी गयी मुँहपत्ति को नीचे उतारते समय वह हथेली का स्पर्श मुँहपत्ति करें, इस तरह तीन बार घिसते हुए लाना चाहिये। यह प्रक्रिया हर बार तीन-तीन बार होने से नौ प्रमार्जना कहलाती है। प्रमार्जना को पख्खोड़ा एवं प्रस्फोटक भी कहा जाता है। ये छह प्रस्फोटक से भिन्न हैं क्योंकि उन्हें विशेषत: छह उर्ध्व पप्फोड़ा अथवा छह पुरिम कहा जाता हैं। परन्तु नौ प्रस्फोटक या नौ पख्खोड़े के रूप में जो प्रसिद्ध हैं, वे ये 9 प्रमार्जना ही हैं।

नौ आस्फोटक (अख्खोड़े) और नौ प्रस्फोटक (पख्खोड़े) तीन-तीन के अन्तराल में होते हैं।

1. पहले तीन आस्फोटक - हथेली चढ़ते ।
2. पहले तीन प्रस्फोटक - हथेली उतरते ।
3. दूसरे तीन आस्फोटक - हथेली चढ़ते ।
4. दूसरे तीन प्रस्फोटक - हथेली उतरते ।
5. तीसरे तीन आस्फोटक - हथेली चढ़ते ।
6. तीसरे तीन प्रस्फोटक - हथेली उतरते ।

पर्यायवाची

1. छह पुरिम - छह उर्ध्व प्रस्फोटक - छह उर्ध्व पप्फोड़ा
2. नौ आस्फोटक - नौ अख्खोड़ा
3. नौ प्रस्फोटक - नौ पख्खोड़ा-नौ प्रमार्जना

विशेष ज्ञातव्य

1. 25 आवश्यक मुँहपत्ति पडिलेहण के होते हैं।
2. 25 बोल शरीर की पडिलेहण के होते हैं।
3. संप्रदाय विशेष से विधि में सामान्य भेद संभाव्य है।
4. मुँहपत्ति प्रतिलेखन की सुविधि गुरु गम से जाननी चाहिये।

बारहवाँ द्वार
शरीर-पड़िलेहण के 25 बोल

गाथा

पायाहिणेण तिय तिय, वामेयरबाहु-सीस-मुह-हियए।
अंसुड्ढाहो पिट्ठे चउ, छप्पय देह पणवीसा।।21।।

शब्दार्थ

पायाहिणेण	- प्रदक्षिणा की तरह	अंसुड्ढाहो	- 1. अस - स्कंध
तिय-तिय	- तीन-तीन		2. उड्ढ - उर्ध्व
वाम	- बायां (डाबा)		3. अहो - नीचे
इयर	- इतर, दायां (जीमणा)	पिट्ठे	- पृष्ठ, पीठ
बाहु	- हाथ	चउ	- चार
सीस	- शीर्ष, मस्तक	छप्पय	- छह पड़िलेहण
मुह	- मुख	देहपणवीसा	- शरीर की पच्चीस
हियए	- हृदय की		

भावार्थ

प्रदक्षिणा जिस प्रकार स्वयं की बायीं तरफ से दायीं तरफ दी जाती है, उसी प्रकार बायें हाथ की पडिलेहण के बाद दायें हाथ की, तदुपरान्त मस्तक, मुख और हृदय की, इन सभी की तीन-तीन पड़िलेहण करनी चाहिये। इसके बाद दोनों स्कन्ध के ऊपर की एवं नीचे कांख की प्रमार्जना करनी चाहिये। इसके बाद छह प्रमार्जना दो पाँवों की करनी होती है। इस प्रकार शरीर की पच्चीस पड़िलेहण होती हैं।।2।।

विशेषार्थ

प्रतिलेखन को प्राकृत में पडिलेहण कहते हैं। यह शब्द वर्तमान में जिस अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह जैन दर्शन की विशिष्ट प्रक्रिया का परिचायक है।

पडिलेहण अर्थात् अच्छी तरह देखना।

साधु जीवन में प्रतिदिन दो बार समस्त उपधि की पडिलेहण की जाती है, जिसका अभिप्राय जयणा, अहिंसा और अप्रमत्त अवस्था का सुपोषण करना है।

परमात्मा महावीर की साधना अहिंसा प्रधान है। इस परम साधना में अनावश्यक बोलना-चलना ही वर्जित नहीं है अपितु अनावश्यक देखना और हाथ हिलाना भी निषिद्ध है।

हर क्रिया में पहले जयणा का विचार जिस विधि के अन्तर्गत हो, वह है जैनत्वम्! गुरुत्वम्! मुनित्वम्!

गुरु वंदन जैन साधना पद्धति का अविभाज्य अंग है। गुरु वंदन के जो तीन प्रकार बताये गये हैं, उसमें द्वादशावर्त वंदन से पहले मुँहपत्ति की पडिलेहण की जाती है क्योंकि शरीर के अंगों की पडिलेहण जिससे की जा रही है, उस मुँहपत्ति का पडिलेहण भी उसी तरह जरूरी है, जैसे कचरा निकालने से पहले झाडू का भी शुद्धिकरण जरूरी है। कचरे से भरी बुहारी गन्दगी को निकालने की बजाय गन्दगी को बढ़ा देती है।

गुरु भगवंत की वंदना से पहले अंगों के पड़िलेहण की जाती है ताकि वहाँ यदि कोई जीव हो तो उसकी जयणा की जा सके।

यहाँ भाष्यकार ने यह भी स्पष्टीकरण किया है कि प्रदक्षिणा की भाँति पडिलेहण का क्रम भी बायें हाथ से दायें हाथ की ओर होता है।

☯ शरीर की प्रतिलेखना के 25 बोल

1-3	बायें हाथ की पडिलेहण के समय तीन बोल	- हास्य, रति, अरति परिहरूं।
4-6	दायें हाथ की पडिलेहण के समय तीन बोल	- भय, शोक, दुगंछा, परिहरूं।

7-9	मस्तक की पडिलेहण के तीन बोल	-	कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या परिहरूं।
10-12	मुख की पडिलेहण के तीन बोल	-	रस गारव, ऋद्धि गारव, शाता गारव परिहरूं।
13-15	हृदय की पडिलेहण के तीन बोल	-	माया शल्य, नियाण शल्य, मिथ्यात्व शल्य परिहरूं।
16-19	दो स्कन्ध और दो कांख की पडिलेहण के चार बोल	-	क्रोध, मान, माया, लोभ परिहरूं।
20-22	दायें पाँव की पडिलेहण के तीन बोल	-	पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय की रक्षा करूं।
23-25	बायें पाँव की पडिलेहण के तीन बोल	-	वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय की जयणा करूं।

प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में यद्यपि ये समस्त 25 पडिलेहण मुखवस्त्रिका के द्वारा करने का निर्देश मिलता है, परन्तु मुँहपत्ति मुख के आगे रखने से उसकी शुद्धि जरूरी है, अत: वर्तमान में दोनों पाँवों की छह पडिलेहण रजोहरण व चरवले के द्वारा की जाती है।

☯ स्त्री के शरीर की 15 पडिलेहण

यह जिज्ञासा सहजतया स्फुरित होती है कि पुरुष के शरीर की पडिलेहण के 25 बोल होते हैं तो फिर स्त्री की शरीर की पड़िलेहण के 15 बोल ही क्यों ?

स्त्रियों का हृदय, मस्तक, स्कंध एवं कांख, ये चारों अंग वस्त्र से आवृत्त होते हैं, अत: इनसे सम्बन्धित दस पडिलेहण छोड़कर स्त्रियों से सम्बन्धित पन्द्रह ही पडिलेहण होती है।

यद्यपि प्रवचन सारोद्धार वृत्ति और धर्म संग्रह वृत्ति में स्त्री के लिये पड़िलेहण से सम्बन्धित पन्द्रह पड़िलेहण का ही कथन है, परन्तु व्यवहार में साध्वी की अठारह पडिलेहण देखी जाती है क्योंकि प्रतिक्रमण के समय शीर्ष (सिर) को खुला रखा जाता है, अत: मस्तक (शीर्ष) से सम्बन्धित तीन प्रतिलेखनाएँ भी होती हैं।

•••

आवश्यकीय विधि से कर्मक्षय

गाथा

आवस्सएसु जह जह, कुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं।
तिविहकरणोवउत्तो, तह तह से निज्जरा होइ।।22।।

शब्दार्थ

आवस्सएसु	- आवश्यकों में	तिविह	- त्रिविध
जह-जह	- जैसे जैसे	करण	- करण
कुणइ	- करता है	उवउत्तो	- उपयोग वाला
पयत्तं	- प्रयत्न	तह-तह	- वैसे वैसे
अहीणं	- न्यून-हीन नहीं	से	- उस जीव के
अइरित्तं	- अतिरिक्त नहीं	निज्जरा होइ	- निर्जरा होती है

भावार्थ/विशेषार्थ

न्यून व अधिक, दोनों दोषों से मुक्त होकर जो आवश्यकीय क्रिया में तीन करण से प्रयत्न करता है, उसके कर्म-निर्जरा होती है।।22।।

विशेषार्थ

प्रतिलेखना की विधि में अहिंसा, संयम और तप का संविधान है।

पडिलेहण में जीवदया होने से अहिंसा, त्रियोग शुभ वृत्ति से संयम तथा त्रिकरण शुद्धि से तप की आराधना होती है।

भाष्यकार ने उपरोक्त गाथा में बताया है कि गुरु वंदन से सम्बन्धित

25, मुँहपत्ति की प्रतिलेखन के 25 तथा शरीर की प्रतिलेखन के 25, इन आवश्यकों को जो विधिपूर्वक करता है, वह विपुल कर्म-निर्जरा करता है।

(1) **न अल्प, न अधिक** - आवश्यक की विधि जो उल्लिखित है, उसी विधि का अनुसरण करना चाहिये। अति का दुर्गुण हमेशा समस्याओं को पैदा करता है।

आचारांग सूत्र में वीर वाणी के साम्य सूत्रद्वय **'णो हीणे, णो अइरित्ते'** कोई हीन नहीं, कोई महान् नहीं और उत्तराध्ययन सूत्र में **'एगा मणुस्स जाइ'** मनुष्य जाति एक है, ये दोनों उद्‌बोधन सारे जगत को संतुलन, समन्वय और सामंजस्य की समझ देते हैं। धर्म पर जब भी जाति का अधिकार पनपा है, तब तब तनाव व टकराव फैला है।

इसी तरह **'हीणक्खरं अच्चक्खरं'** सूत्र व अर्थ को कम व ज्यादा बोलने की प्रवृत्ति ज्ञानाचार में दोष लगाती है। अधिक-अल्प अन्न-जल से स्वास्थ्य लड़खड़ाता है। अधिक-अत्यल्प विहार से मूर्च्छा और मोह का रोग सताता है।

निष्कर्ष यही है कि क्रिया सन्तुलित रूप से करनी चाहिये।

(2) **विधि मार्ग** - विधि हर कार्य में महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि आत्म-अनुष्ठान और धर्म-विधान जितना अधिक हो, उतना ही श्रेयस्कर पर यह नियम अनियत विधि वाले धर्म कार्यों में ही लगता है। यूं तो कर्म-निर्जरा की अपेक्षा से यदि 100 खमासमणे दें तो भी कोई मुश्किल नहीं। पर जहाँ दो खमासमणों का नियम है, वहाँ अगर तीन देंगे तो विधि-लोप से कर्मबन्धन होगा।

(3) **त्रिकरण** - करना, करवाना और अनुमोदना, इन तीन शुभ करण से त्रियोग (मन-वचन-काया) जब जुड़ते हैं तो निश्चित ही भावशुद्धि एवं लेश्या विशुद्धि सतत बढ़ती हुई कर्मक्षय का कारण बनती है।

☯ **मुँहपत्ति पडिलेहण में औचित्य** - मुँहपत्ति और शरीर की पडिलेहण के 25-25 बोल मन में बोले जाते हैं

इन बोलों में **'आदरूँ'** शब्द स्वीकृति को सूचित करता है और

'परिहरुं' शब्द अस्वीकृति को इंगित करता है। इन्हें क्रमश: उपादेय और हेय भी कह सकते हैं।

(1) **'सूत्र-अर्थ तत्त्व करी सद्दहुं'** प्रेरणा देता है कि जिनोक्त सूत्र और उसके तात्त्विक अर्थ में श्रद्धा रखनी चाहिये।

(2) इस श्रद्धान में अवरोध पैदा करते हैं - सम्यक्त्व मोहनीय आदि तीन भेद। इनमें से कोई श्रद्धा को नष्ट करता है तो कोई श्रद्धा को मलिन करता है। अत: इन तीनों का त्याग करना चाहिये।

(3) मोहनीय कर्म ही सम्यग्दर्शन का विनाशक है, अत: मोह-राग का परित्याग जरुरी है। राग तीन प्रकार का है- काम-भोगों का राग, व्यक्ति-वस्तु के प्रति स्नेह राग तथा अपनी मान्यता का राग।

(4) इन तीनों का त्याग करने से ही तत्त्वत्रयी की यथार्थ पहचान होती है। कुदेव आदि तीन का वर्जन होता है।

(5) तत्त्वत्रयी आत्मा को रत्नत्रयी का शिवराज प्रदान करती है। जब ज्ञानादि की उपासना का बोध हो जाता है तो उनकी विराधना से निवृत्ति का संकल्प बनता है।

(6) शुभ वृत्ति व अशुभ निवृत्ति हेतु शुद्ध मन-वचन व काया में अभ्यास और अशुभ मन-वचन व काया का निकास जरूरी है।

मुँहपत्ति पडिलेहण के पच्चीस बोलों से हेय और उपादेय का समुचित ज्ञान हो जाता है।

(7) अब शरीर के पडिलेहण में सबसे पहले हास्य, रति (सुख में आनंद) व अरति (दु:ख में पीड़ा) का त्याग करना चाहिये। यदि रति व अरति के कंटीले-हठीले मार्ग को छोड़कर विरति के महान् मार्ग पर दौड़े तो भय, शोक व दुगंछा (घृणा) का त्याग स्वयमेव हो जाता है क्योंकि जहाँ विरति का विवाह है, वहाँ न आह है, न वाह है। इससे चरित्राचार की शुद्धि होती है, जो ज्ञान-दर्शन को निर्मल बनाती है।

(8) लेश्या का अर्थ होता है-विचार, भाव, चित्त, चेतना, सूक्ष्म तरंगें, आभामण्डल। भाव के अनुसार ही ओरा बनता है, अत: मस्तिष्क में

रहने वाली पाप-तरंग स्वरुप कृष्ण, नील, कापोत रंग में रंगीन विचारों का त्याग जरुरी है।

(9) माया आदि तीनों शल्यों का त्याग करने के साथ पृथ्वीकाय आदि जीवों पर मैत्री व दया का भाव जरुरी है।

☯ मुँहपत्ति प्रतिलेखन की विधि

मुँहपत्ति की पडिलेहण उत्कटिकासन में होती है, अत: इस आसन में आसीन होकर दोनों हाथों को दोनों पाँवों के बीच में रखें तथा मुँहपत्ति को हाथ में लेकर प्रतिलेखन करें।

'सूत्र अर्थ तत्त्वकरी सद्दहुं' इस प्रथम बोल का मात्र **'सूत्र'** शब्द का उच्चारण करते हुए मुँहपत्ति के एक भाग की प्रतिलेखना होती है। उसका निरीक्षण सूक्ष्म तौर पर किया जाता है।

तदुपरान्त दायें हाथ में पकड़ा हुआ कोना-किनारा घूमाकर बायें पर रखें एवं इस बायें हाथ में पकड़ा हुआ कोना दायें हाथ में पकड़ ले। इस मुँहपति का भाग बदलेगा और बदले हुए भाग की प्रतिलेहण करते हुए बोले - **अर्थ तत्त्व करी सद्दहुं।**

सूत्र और अर्थ, दोनों को यथार्थ एवं सत्य स्वरूप को जानकर उसमें श्रद्धान करना प्रथम बोल का मथितार्थ है।

इसके बाद मुँहपत्ति को पूर्ववत् घूमाकर बायें हाथ में पकड़े हुए भाग को तीन बार हिलाते हुए बोले-**सम्यक्त्व मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय मिश्र मोहनीय परिहरुं।**

यहाँ हिलाने का अर्थ खंखेरना। जैसे झटकने-खंखेरने से धूल आदि अनावश्यक पदार्थ दूर हो जाते हैं, वैसे ही मुँहपत्ति तीन बार हल्के से हिलाने से मिथ्यात्व आदि दोषों को दूर किया जाता है।

☯ सम्यक्त्व मोहनीय से सम्यग्दर्शन में शंका, कांक्षा आदि दोष लगते हैं।

☯ सुदेव-सुगुरु और सुधर्म में अश्रद्धा करना मिथ्यात्व मोहनीय है।

☯ सुदेव-सुगुरु-सुधर्म रूप तत्त्वत्रयी में श्रद्धा और अश्रद्धा, दोनों का अभाव मिश्रमोहनीय कहलाता है।

★ पुन: मुँहपत्ति को पलटकर दायें हाथ वाले किनारे को तीन बोल बोलते हुए हिलाओ- **कामराग, स्नेहराग दृष्टिराग परिहरुं।**

☯ विजातीय के प्रति राग **कामराग** है।

☯ वस्तु-व्यक्ति के प्रति राग **स्नेहराग** है।

☯ अपने अतात्त्विक मत के प्रति राग **दृष्टिराग** है।

☯ **परिहरुं** - त्याग करता हूँ।

इसके बाद वधूटक की क्रिया का प्रारम्भ होता है जिसके अन्तर्गत दायें हाथ की चार अंगुलियों के बीच मध्य तीन भागों में मुँहपत्ति को भरे।

★ इसके बाद मुँहपत्ति को बायें हाथ की कोहनी तक ले जाओ पर यह ध्यान रहे कि मुँहपत्ति का हाथ से स्पर्श न हो। उस समय तीन बोल बोले- **सुदेव सुगुरु सुधर्म आदरुं।**

☯ **सुदेव** - वीतराग परमात्मा।

☯ **सुगुरु** - पंचमहाव्रतधारी महात्मा।

☯ **सुधर्म** - अहिंसा प्रधान जैन धर्म।

☯ **आदरुं** - स्वीकार करता हूँ।

★ कोहनी तक लाई हुई मुँहपत्ति को हाथ का स्पर्श करते हुए नीचे ले जाये। उस समय तीन बोल बोले - **'कुदेव कुगुरु कुधर्म परिहरुं।'** कुदेव कुगुरु और कुधर्म का अर्थ सुदेव इत्यादि से विपरीत जानना चाहिये।

★ पुन: मुँहपत्ति को पूर्ववत् कोहनी तक ले जाये, तब तीन बोल बोले- **ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदरुं।**

☯ **ज्ञान**-जिनवाणी को जानना ज्ञान है।

☯ **दर्शन**-जिनवाणी पर श्रद्धा करना दर्शन है।

☯ **चारित्र**-जिनवाणी के अनुसार आचरण करना चारित्र है।

☯ **आदरुं**-स्वीकार करता हूँ।

★ पुन: मुँहपत्ति का हाथ से स्पर्श करवाते हुए नीचे लाये, तब तीन बोल बोले - **ज्ञानविराधना दर्शन विराधना चारित्र विराधना परिहरुं।**

☯ **ज्ञान विराधना** - ज्ञानाचार में दोष लगाना।

☯ **दर्शन विराधना** - सम्यग्दर्शन में दोष लगाना।

☯ **चारित्र विराधना** - चारित्र में दोष लगाना।

☯ **परिहरुं** - त्याग करता हूँ।

★ पुन: मुँहपत्ति को कोहनी तक लाते हुए तीन बोल बोले- **मनोगुप्ति वचन गुप्ति काय गुप्ति आदरुं।**

☯ **मनोगुप्ति** - मन पर नियन्त्रण करना।

☯ **वचनगुप्ति** - मौन धारण करना।

☯ **कायगुप्ति** - काया की ममता एवं चंचलता का त्याग करना।

☯ **आदरुं** - स्वीकार करता हूँ।

★ अब मुँहपत्ति को पुन: हाथ का स्पर्श करवाते हुए अंगुली तक ले जाये, तब तीन बोल बोले - **मनोदण्ड वचनदण्ड कायदण्ड परिहरुं।**

☯ **मनोदण्ड** - मन से बुरा सोचना।

☯ **वचनदण्ड** - वचन से बुरा बोलना।

☯ **कायदण्ड** - काया से बुरा करना।

☯ **परिहरुं** - त्याग करता हूँ।

★ अब मुँहपत्ति से बायें हाथ के नीचे की प्रमार्जना करते हुए बोले - **हास्य रति अरति परिहरुं।**

☯ **हास्य** - हास-प्रहास का त्याग करना।

☯ **रति** - भोगों में रुचि का भाव रखना।

☯ **अरति** - संयम व वैराग में अरुचि का भाव रखना।

☯ **परिहरुं** - त्याग करता हूँ।

★ पुन: दायें हाथ में पकड़ी हुई मुँहपत्ति को बायें हाथ में लेकर चार अंगुलियों के बीच तीन वधूटक बनाये। फिर दायें हाथ की तीन बोलों से पडिलेहण करें - **भय शोक दुगंछा परिहरुं।**

☯ **भय** - सात प्रकार के भय रखना।

☯ **शोक** - आर्त्तध्यान-रौद्र ध्यान व खेद करना।

☯ **दुगंछा** - अप्रिय वस्तु आदि से घृणा करना।

☯ **परिहरुं** - त्याग करता हूँ।

★ अब मुँहपत्ति को दोनों हाथों में पकड़कर मस्तक की तीन बोलों से प्रमार्जना करें - **कृष्ण लेश्या नील लेश्या कापोत लेश्या परिहरुं।**

☯ **लेश्या** - आभामण्डल, सूक्ष्म विचार, चेतना, भाव।

☯ **कृष्ण लेश्या** - बहुत बुरे विचार। कृष्ण वर्ण जैसे।

☯ **नील लेश्या** - थोड़े कम मलिन विचार। नीलवर्ण जैसे।

☯ **कापोत लेश्या** - एकदम कम मलिन विचार। हरे वर्ण जैसे।

☯ **परिहरुँ** - त्याग करता हूँ।

बुरे विचारों का जन्म स्थल मस्तिष्क है, अत: उसकी प्रमार्जना करते हुए उपरोक्त तीन बोल बोले जाते हैं।

★ मुख की पडिलेहण करते हुए तीन बोल बोले- **ऋद्धि गारव रस गारव शाता गारव परिहरुं।**

☯ **गारव** - गर्व, अभिमान, घमण्ड।

☯ **ऋद्धि** - सम्पत्ति।

☯ **रस** - विविध भोजन सामग्री।

☯ **शाता** - शारीरिक शाता।

☯ **परिहरुं** - त्याग करता हूँ।

मुख की पडिलेहण के समय ये तीन बोल इसलिये बोले जाते हैं कि मुख से ही स्वयं की ऋद्धि का गुणगान होता है, सरस भोजन मुख से लिये जाते हैं तथा शाता-स्वस्थता का अहंकार मुख पर चमकता है।

★ अब वक्षस्थल की पड़िलेहण करते हुए तीन बोल बोले- **मायाशल्य नियाणशल्य मिथ्यात्वशल्य परिहरुं।**

शल्य अर्थात् कांटा, तीर। हृदय में कांटा हो तो मन में शांति नहीं होती, ऐसे मुख्यतया माया आदि तीन ही कांटें हैं।

☯ **माया शल्य** - दिखावा।

☯ **नियाण शल्य** - जप-तप के बदले लौकिक फल की कामना।

☯ **मिथ्यात्व शल्य** - जिनवाणी में शंका करना।

★ दायें बाये स्कंध की पडिलेहण के समय क्रमश: बोले - **क्रोध मान परिहरुं।**

★ दायीं-बायीं कांख की पडिलेहण के समय क्रमश: बोले - **माया लोभ परिहरुं।**

★ दायें पाँव की चरवले से पडिलेहण करते हुए बोले - **पृथ्वीकाय अप्काय, तेउकाय की रक्षा करुं।**

अर्थात् सचित्त रज आदि, सचित्त जल आदि, सचित्त आग आदि के जीवों की मैं रक्षा करता हूँ।

★ बायें पाँव की चरवले से पडिलेहण करते हुए बोले - **वायुकाय वनस्पतिकाय त्रसकाय की जयणा करुं।** अर्थात् सचित्त हवा, सचित्त फल, फूल, पत्ता आदि, चींटी, मकोड़े, मच्छर आदि समस्त जीवों की यतना करता हूँ।

★ जहाँ एक ही अंग की तीन बोलों से प्रतिलेखना की जाती है, तब उस अंग को मानसिक रुप से तीन भागों में विभक्त करके पडिलेहण करनी चाहिये।

•••

न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए

दशवैकालिक सूत्र 9/1/7

गुरुजनों की अवहेलना करने वाला कभी भी बंधनों से मुक्ति (मोक्ष) नहीं पा सकता।

तेरहवाँ द्वार
गुरुवंदन में वर्ज्य बत्तीस दोष

गाथा

दोस अणाढिय थड्ढिय, पविद्ध परिपिंडियं च टोलगइं।
अंकुस कच्छभरिंगिय, मच्छुव्वत्तं मणपउट्ठं।।23।।

शब्दार्थ

दोस	-	दोष	च टोलगइं	-	और टोलगति
अणाढ़िय	-	अनादृत	अंकुस	-	अंकुश
थड्ढिय	-	स्तब्ध	कच्छभरिंगिय	-	कच्छपरिंगित
पविद्ध	-	प्रविद्ध	मच्छुव्वत्तं	-	मत्स्योद्वृत्त
परिपिंडियं	-	परिपिंड़ित	मनपउट्ठं	-	मन:प्रदुष्ट

गाथा

वेइयबद्ध भयंतं, भय गारव मित्त कारणा तिन्नं।
पडिणीय रुट्ठ तज्जिय, सढ हीलिय विपलिउंचिययं।।24।।

शब्दार्थ

वेइयबद्ध	-	वेदिकाबद्ध	कारणा	-	कारण
भयंतं	-	भजन्त	तिन्नं	-	स्तन
भयं	-	भय	पडिणीय	-	प्रत्यनीक
गारव	-	गर्व	रुट्ठ	-	रुष्ट
मित्त	-	मित्र	तज्जिय	-	तर्जित

सढ	- शठ	विपलिउंचिययं	- विपरिकुंचित
हीलिय	- हीलित		

गाथा

दिट्ठमदिट्ठं सिंगं, कर तम्मोअण अणिद्धणालिद्धं।
ऊणं उत्तरचूलिय, मूअं ढड्ढर चुडलियं च।।25।।

दिट्ठमदिट्ठ	- दृष्ट-अदृष्ट	ऊणं	- ऊन
सिंगं	- श्रृंग	उत्तरचूलिअ	- उत्तरचूलिका
कर	- कर	मूअं	- मूक
तम्मोअण	- मोचन	ढ़ड्ढर	- ढड्ढर
अणिद्ध	- आश्लिष्ट	चुडलियं च	- और चुडलिक
णालिद्धं	- अनाश्लिष्ट		

भावार्थ

अनादृत, स्तब्ध, प्रविद्ध, परिपिंड़ित, टोलगति, अंकुश, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वृत्त, मन:प्रदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भजंत, भय, गारव, मित्र, कारण, स्तेन, प्रत्यनीक, रुष्ट, लर्जित, शठ, हीलित, विपरिकुंचित, दृष्टादृष्ट, श्रृंग, कर, मोचन, आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट, ऊन, उत्तरचूलिका, ढड्ढर, चूडलिक, इन 32 दोषों को टालकर द्वादशावर्त्त वन्दन करना चाहिये।।23-24-25।।

विशेषार्थ

उपरोक्त तीन गाथाओं में भाष्यकार ने उन दोषों और कमजोरियों का स्पष्टीकरण किया है, जो गुरुवंदन विधि से संबद्ध है तथा जिन्हें जानकर और छोड़कर वन्दन-विधि को निर्वाण-निधि में परिवर्तित किया जा सकता है। इनका वर्णन आवश्यक सूत्र में प्राप्त होता है।

(1) **अनादृत दोष** - अनादृत अर्थात् अनादर। हृदय में बहुमान होना वन्दन-विधि की प्रथम आवश्यकता है। चित्त की उत्सुकता जब

किसी अन्य पदार्थ में होती है, तब वन्दन में अनादर होता है क्योंकि चित्त अन्यत्र पदार्थ से जुड़ जाता है। अनादरपूर्वक वंदन करने से अनादृत दोष लगता है।

निष्कारण ही ठूंठ की तरह अकड़पूर्वक, बिना झुके वंदन करना अनादृत दोष कहलाता है।

(2) **स्तब्ध दोष** - स्तब्ध यानि अक्कड़, अभिमानी, गर्वोन्नत आदि। आठ प्रकार के मदों में से किसी मद से युक्त होकर वन्दन करना स्तब्ध दोष है।

स्तब्ध भी दो प्रकार का है- द्रव्य और भाव।

रोगादि कारण से नहीं झुकना द्रव्य स्तब्ध और अभिमान के कारण नहीं झुकना भाव स्तब्ध है। इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार बनेगी-

1. द्रव्य से स्तब्ध, भाव से स्तब्ध	-	जमाली
2. द्रव्य से स्तब्ध, भाव से अस्तब्ध	-	आनंद (जब गौतम स्वामी उसके घर पधारे)
3. द्रव्य से अस्तब्ध, भाव से स्तब्ध	-	बालचन्द्रमुनि
4. द्रव्य से अस्तब्ध, भाव से अस्तब्ध	-	गौतम स्वामी, श्रीकृष्ण वासुदेव

इन चार भांगों में से चौथा भंग सर्वश्रेष्ठ एवं शुद्ध है। पहला भंग सर्वाधिक अशुद्ध है।

(3) **प्रविद्ध दोष** - आधी-अधूरी वंदना करना प्रविद्ध दोष है।

(4) **परिपिंड़ित दोष** - वन्दनीय आचार्यों, उपाध्यायों को अलग-अलग वन्दन न करके एक साथ वन्दन करना परिपिंडित दोष है क्योंकि सुविधि तो यह है कि हर वन्दनीय आचार्य आदि को अलग-अलग वन्दन करना चाहिये।

इस दोष का दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि सूत्राक्षरों का अलग-अलग उच्चारण होना चाहिये, परन्तु उनका उच्चारण इस प्रकार करना कि वे एक-दूसरे पर चढ़ जाये और स्पष्ट व भली-भाँति सुनाई न दे।

(5) **टोलगति दोष** - वन्दन का यह सद्व्यवहार है कि एक स्थान पर ही प्रारंभ से पूर्णता तक पहुँचना चाहिये। पर वन्दन में कभी आगे आये, कभी पीछे हटे, कभी दायीं से बायीं ओर खिसके, कभी बायीं से दायीं तरफ, इसे टोल दोष कहते है। स्थान की स्थिरता से टोल दोष समाप्त हो जाता है। सरल अर्थ में उछलते-कूदते हुए वंदना करना टोलगतिदोष है।

(6) **अंकुश दोष** - अंकुश अर्थात् नियन्त्रण। जिस प्रकार महावत गजराज को अंकुशपूर्वक यथास्थान ले जाता है, ठीक उसी तरह जब शिष्य को वन्दना करनी हो, तब आचार्य (गुरु) का अवज्ञापूर्वक हाथ पकड़कर, उनके कार्य में विघ्न करके या उनके वस्त्र खींचकर वन्दना योग्य स्थान लाकर, बिठाकर वन्दना करता है, तो अंकुश दोष कहा जाता है।

(7) **कच्छपरिंगित दोष** - कच्छप यानि कछुआ। रिंगित यानि रेंगना। आगे-पीछे देखते हुए, शरीर को हिलाते हुए वन्दना करना कच्छपरिंगित दोष कहलाता है।

वांदणे के पाठ में दो मुद्राएँ होती हैं-

(1) **बैठे-बैठे** - अहो कायं काय, जत्ता भे आदि के उच्चारण काल में।

(2) **खड़े-खड़े** - **'तित्तीसन्नयराए'** आदि वन्दनाक्षरों के उच्चारण काल में।

इन दोनों मुद्राओं में शरीर को झूले की भाँति आगे और पीछे झुलाना कच्छपरिंगित दोष है।

कछुआ स्वयं का मुख पीठ से बार-बार बाहर निकालता है व पीठ में डालता है, यह उसका रिंगण (रेंगना) है।

निष्कर्षत : कछुए की भाँति रेंगते हुए अर्थात् मुख, शरीर आदि को आगे-पीछे करते हुए वन्दन-व्यवहार कच्छपरिंगित दोष कहलाता है।

(8) **मत्स्योद्‌वृत्त दोष** - मत्स्य अर्थात् मछली। उद्‌वृत्त अर्थात् उछलना। जिस प्रकार मत्स्य उछलता हुआ शीघ्र जल में से ऊपर आता है और पुन: जल में जाते समय शरीर को उल्टा करके जाता है, उसी प्रकार वन्दन करते समय शिष्य शीघ्रता से उठता और बैठता है तो मत्स्योद्‌वृत्त दोष कहलाता है।

इस दोष में मत्स्य-आवर्त्त दोष भी परिगणित है। जैसे मछली पानी में गोल-गोल घूमती है पर अपने स्थान को नहीं छोड़ती, उसी प्रकार आसन से उठकर, जयणापूर्वक गुरुजनों के पास जाकर वन्दना करने की बजाय आसन पर बैठै बैठे ही शरीर को चारों दिशाओं में घूमाकर वन्दन करता है तो मत्स्योद्‌वृत्त दोष कहलाता है।

(9) **मन: प्रदुष्टदोष** - वंदन करते समय वन्दनकर्ता के हृदय में वन्दनीय के गुणों का स्मरण होने से उनके प्रति श्रद्धा का वलय बनता है, जिससे गुण आकर्षित होकर वन्दनकर्त्ता में प्रकट होते हैं।

गुणों की अनुमोदना का यह रंग-ढ़ंग गुणवान बनने का सरलतम सहज उपाय है।

वन्दन करते समय अगर वंद्य व्यक्ति के दोष वंदनकर्ता के मन में प्रकट हो और वह अरुचि, अश्रद्धा और अविवेक से वन्दन करे तो मन:प्रदुष्ट, दोष कहलाता है अथवा गुरुजनों से ईर्ष्या व द्वेष करते हुए वंदन करें तो मन:प्रदुष्ट दोष कहलाता है।

प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में मन: प्रदुष्ट दोष के दो प्रकार वर्णित है। गुरु ने स्वयं ही शिष्य को जो अपना दोष बताया है, वह दोष मन में लाकर वन्दन करना आत्म प्रत्यय मन: प्रदुष्ट दोष कहलाता है।

गुरु में स्थित जो अवगुण शिष्य को गुरु के सिवाय किसी अन्य ने कहा हो तो वह दोष हृदय में लाने से परप्रत्यय मन: प्रदुष्ट दोष कहलाता है।

(10) **वेदिकाबद्ध दोष** - वेदिका अर्थात् हाथ की रचना-स्थापना। बद्ध अर्थात् संयुक्त।

हाथ की रचना पाँच प्रकार से दोषपूर्ण होती है- 1. दोनों हाथों को दोनों घुटनों के ऊपर रखना 2. दोनों हाथों को दोनों घुटनों के नीचे रखना 3. दोनों हाथों को गोद में रखना 4. दोनों हाथों के बीच में एक घुटने को रखना 5. दोनों हाथों को दोनों घुटने के आस-पास रखना।

इन पाँचों में से एक या उससे अधिक दोष लगाने से वेदिकाबद्ध दोष कहलाता है।

(11) **भजन्त दोष** - यह दोष स्वार्थ और लोभ के कारण लगता है, इसी प्रकार मोह एवं अहंकार का दोष भी इसमें समाहित है।

शिष्य जब गुरु को इस कारण वन्दन करता है कि-

1. गुरु मेरे कथन का अनुसरण करते हैं या करेंगे।

2. गुरु मेरी सारसंभाल अच्छी तरह करते हैं या करेंगे।

3. गुरु मेरी प्रशंसा करते हैं या करेंगे।

तो वन्दना में भजन्त दोष लगता है। इसे यजमान दोष भी कहते हैं।

वंदना गुरु की सेवा, प्रशंसा एवं सम्मान करने के लिये है, न कि पाने के लिये। अत: गुरु की वंदना कर्म-निकंदना के लिये होनी चाहिये, खुद की प्रशस्ति और अभिनंदना के लिये नहीं।

(12) **भय दोष**- डर से वंदना करना भय दोष है। यदि शिष्य सोचे कि यदि वंदन नहीं करूंगा तो गुरु संघ, गच्छ, समुदाय, क्षेत्र से बाहर निकाल देंगे या अप्रसन्न हो जायेंगे तो भय दोष लगता है। वस्तुत: वंदन में अविधि के कर्मबन्धन का भय हो पर गुरु के कुपित होने का भय न हो।

(13) **मैत्री दोष** - आचार्य मेरे मित्र हैं या मित्रता निभायेंगे या वंदन से मित्रता स्थापित होगी, इन भावनाओं से वंदन करना मैत्री दोष है।

(14) **गारव दोष** - गारव यानि गर्व, अभिमान, घमण्ड़। यदि मैं 12 आवर्त्त, 17 संड़ासक प्रमार्जना, 25 आवश्यकपूर्वक वंदना करूंगा तो देखने वाले कहेंगे कि यह साधु क्रिया-निष्ठ है, वंदन आदि की समाचारी में कुशल है, गर्व-पोषण की इन भावनाओं से गुरु वंदन में गर्व-दोष लगता है।

(15) **कारण दोष** - वंदन से लघुता, लघुता से ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति एवं ज्ञानादि गुणों से प्रभुता प्रकट होती है। पर जब हृदय का आलय एवं आभामण्ड़ल इन दुष्ट भावनाओं से मलिन एवं विषाक्त हो जाएँ कि गुरु मुझे वस्त्र, पात्र आदि उपलब्ध करवायेंगे तो कारण दोष कहलाता है। ज्ञानादि कारणों से वंदन करना दोषपूर्ण नहीं है परन्तु यश, प्रशस्ति, पदार्थ-लाभ के कारणों से वंदन करना कारण दोष कहलाता है।

(16) **स्तेन दोष** - स्तेन-चोर। कोई देख न ले, इस अभिप्राय से चोर की भाँति जल्दबाजी से और छुपके से वंदन करना स्तेन दोष कहलाता है।

(17) **प्रत्यनीक दोष** - प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी। आचार्य के प्रति विरोध को दर्शाते हुए वंदन करना प्रत्यनीक दोष कहलाता है।

(18) **रुष्ट दोष** - गुरु/आचार्य जब रोषायमान हो, तब या स्वयं उन पर कुद्ध होकर वंदन करना रुष्ट दोष है।

(19) **तर्जना दोष** - उपालम्भ सुनाते हुए वंदना करना तर्जना दोष है।

हे गुरु! आप काष्ठ की प्रभु-मूर्ति के समान है, क्योंकि वंदना करने से न तो प्रसन्न होते हो और वंदना नहीं करने से रुष्ट भी नहीं होते हो, अत: हम वंदन-विनय करें अथवा न करें, दोनों ही स्थितियों में आप समताधारी हो, आपको कोई भी फर्क नहीं पड़ता। इस प्रकार असमाधि व मानसिक कष्ट पहुँचाते हुए वंदना करना तर्जना दोष है।

(20) **शठ दोष** - शठ अर्थात् मायावी। शठता अर्थात् माया, दंभ, आड़म्बर, ढ़ोंग, दिखावा, छल आदि।

पारस्परिक विनय, व्यवहार और विश्वास का वर्धन करने वाला वंदन स्वयं कभी-कभी विश्वासघात का कारण बन जाता है।

उपरी तौर पर वंदन विधि को इस तरह निभाना कि लोक में लोगों को ही नहीं, गुरुजनों को भी ऐसी प्रतीति हो कि यह शिष्य मुनि कितनी सुन्दर एवं व्यवस्थित रीति से वंदना करता है, पर भीतर में

कपट/शठ भाव रखना शठ दोष कहलाता है। शठता का व्यवहार बालचन्द्रमुनि ने कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के साथ किया था। मतान्तर से शठ दोष उसे भी कहा गया है, जब बीमारी, कमजोरी आदि का झूठा बहाना बनाकर अविधि से वंदन किया जाता है।

(21) **हीलित दोष** - अवहेलना और अवज्ञा करते हुए वंदन करना हीलित दोष है। हे गुरु! आपको वन्दन करने से भला क्या लाभ है? ऐसे वाक्य बोलने से हीलित दोष लगता है।

(22) **विपरिकुंचित दोष** - कुंचित अर्थात् आधा और अल्प किया हुआ। वन्दना के मध्य में देश कथा, राज कथा आदि करना विपरिकुंचित दोष है। थोड़ी वंदना, थोड़ी बातें, इस प्रकार वंदन से विपरिकुंचित दोष लगता है।

(23) **दृष्ट-अदृष्ट दोष** - जब अनेक साधु वंदन कर रहे हो, तब साधुओं की आड़ में छिपकर वंदन करने से बचना अथवा अंधकार में वंदन करते समय गुरु के नहीं देख पाने से वंदना नहीं करना अथवा वंदनकर्त्ता पर गुरु का जब ध्यान न हो, तब वंदन न करना और जब ध्यान हो, तब वंदन करना, यह दृष्टादृष्ट दोष है।

जिज्ञासा - स्तेन और दृष्टादृष्ट, दोनों दोष परस्पर तुल्य प्रतीत होते हैं? इनका विशिष्टार्थ क्या है ?

समाधान - स्तेन दोष लोक से संबद्ध है, जबकि दृष्टादृष्ट गुरु से संबद्ध है। लोग देखें, तब करना और न देखें, तब नहीं करना या अविधि से करना स्तेन दोष है, जबकि गुरु न देखे, तब न करना और जब देखे, तब करना दृष्टादृष्ट दोष है।

(24) **शृंग दोष** - जिस प्रकार पशु के दो शृंग होते हैं, वैसे ही मस्तक के दायें-बायें दो भाग होते हैं।

जब **'अहो कायं काय'** और **'जत्ता भे जवणिज्जं चं भे'** इन पदों का उच्चारण किया जाता है, तब अंगुलियों के पोरवों का स्पर्श ललाट से किया जाता है, पर ऐसा न करके अहो आदि पदों के उच्चारण काल में यदि मस्तक के दायें-बायें भाग का स्पर्श किया जाता है तो शृंग दोष कहलाता है।

(25) **कर दोष**- कर अर्थात् राजस्व। साधु बनकर हम लौकिक राजा और सरकार को कर चुकाने से मुक्त हो गये, पर गुरु रूपी सरकार को वन्दन रूपी कर देने अभी तक छूटे नहीं है। ऐसा समझकर वन्दन करने पर कर दोष कहलाता है।

(26) **मोचन दोष** - वंदन किये बिना छूटकारा नहीं है, ऐसे भावों के वशीभूत होकर वंदन करने से मोचन दोष लगता है।

(27) **आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट दोष**- आश्लिष्ट अर्थात् स्पर्श। अनाश्लिष्ट अर्थात् स्पर्श नहीं।

अहो कायं काय आदि छह आवर्त्त करते समय दोनों हाथ रजोहरण और मस्तक के लगने चाहिये। ऐसा नहीं करने पर आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट दोष लगता है।

स्पर्श के चार भंग कहे गये हैं-

1. दोनों हाथों से रजोहरण एवं मस्तक, दोनों का स्पर्श करना।

2. दोनों हाथों से रजोहरण एवं मस्तक, दोनों का स्पर्श नहीं करना।

3. दोनों हाथों से रजोहरण का स्पर्श करना, पर मस्तक का नहीं करना।

4. दोनों हाथों से मस्तक का स्पर्श करना, पर रजोहरण का नहीं करना।

इस चतुर्भंगी में से पहला पूर्ण शुद्ध, दूसरा पूर्ण अशुद्ध तथा अवशिष्ट दोनों शुद्ध-अशुद्ध हैं। गुणीजनों की वंदना का परिपूर्ण लाभ उठाने के लिये प्रथम भंग का आचरण करना चाहिये।

(28) **न्यून दोष** - न्यून अर्थात् अल्प। वंदन सूत्र के व्यंजन-अक्षर, पद-वाक्य और आवश्यक यदि अल्प किये जाते हैं, तो न्यून दोष लगता है।

(29) **उत्तरचूलिका दोष** - उत्तर एक दिशा का नाम है, पर उत्तर का दूसरा अर्थ बाद/पश्चात् के अर्थ में है। चूलिका अर्थात् ऊँची शिखा। वंदन करने के बाद उसकी चूलिका स्वरूप उच्च स्वर से 'मत्थएण

वंदामि' बोलना उत्तरचूलिका दोष है। इसे उत्तरचूड़ दोष भी कहा जाता है क्योंकि चूड़ और चूलिका समानार्थी शब्द हैं।

(30) **मूक दोष** - मूक अर्थात् उच्चारण अभाव। मूक का अर्थ गूंगा भी होता है। जिस प्रकार मूक का शब्द-उच्चारण सुनाई नहीं देता, वैसे ही वंदन-सूत्र के अक्षर, पद और वाक्यों का मन ही मन में उच्चारण करना अथवा इतने मंद स्वर में बोलना कि गुरु महाराज को सुनाई न दे, यह मूक दोष है।

(31) **ढड्ढर दोष** - उच्च स्वर से वंदना करना ढड्ढर दोष है। वंदन करते समय शब्द-उच्चारण का स्तर इतना ही रखना चाहिये कि गुरु भगवंत के साथ-साथ समस्त वंदनाकर्ताओं को सुनाई दे। इतनी जोर से पाठ-उच्चारण न करें कि कानों को अप्रियकर और क्लेशकर लगे।

(32) **चूड़लिक दोष**- इसे चूड़ली दोष भी कहा जाता है। रजोहरण को किनारे से पकड़कर घुमाते हुए वंदना करना चूड़लिक दोष कहा जाता है।

•••

आणा निद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागार संपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई।।

उत्तराध्ययन सूत्र 1/2

जो गुरुजनों की आदेश-निर्देश का समुचित रूप से परिपालन करता है, उनके सन्निकट रहता है तथा उनकी हर चेष्टा व संकेत को समझकर तदनुसार आचरण में तत्पर रहता है, उसे विनीत कहा जाता है।

दोषमुक्त वंदना का परिणाम

गाथा

बत्तीस दोस परिसुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा।।26।।

शब्दार्थ

बत्तीस दोस	-	बत्तीस दोषों से	पावइ	-	पाता है
परिसुद्धं	-	परिशुद्ध	निव्वाणं	-	निर्वाण को
किइकम्मं	-	कृति कर्म	अचिरेण	-	शीघ्र ही
जो	-	जो साधु	विमान	-	वैमानिक देवों के
पउंजइ	-	प्रयोग कर	वासं	-	निवास को
गुरुणं	-	गुरु को	वा	-	अथवा
सो	-	वह मुनि			

भावार्थ

जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका गुरु को बत्तीस दोषों से मुक्त द्वादशावर्त्त वन्दन करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं अथवा वैमानिक देव बनते हैं।।26।।

नेत्र दोष के कारण अक्षर ज्ञान नहीं होता। यदि नेत्र विकार समाप्त हो जाये तो अक्षर ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है। इसी तरह दोषपूर्ण गुरुवंदन विधि में विशेष लाभ नहीं मिलता पर दोष-विकार से विमुक्त वंदन करने से बाहुबली की तरह परम ज्ञान व निर्वाण प्राप्त होता है।

चौदहवाँ द्वार
वंदन से छह गुणों की प्राप्ति

गाथा

इह छच्च गुणा विणयो-वयार माणाइभंग गुरुपूआ।
तित्थयराण य आणा, सुयधम्माराहणाऽकिरिआ।।27।।

शब्दार्थ

इह छच्च	- यहाँ छह	तित्थयराण	- तीर्थंकरों की
गुणा	- गुण	य आणा	- आज्ञा
विणयोवयार	- विनयोपचार	सुय धम्म	- श्रुत धर्म की
माणाइ भंग	- मान आदि भंग	आराहणा	- आराधना
गुरुपूआ	- गुरु पूजा	अकिरिया	- अक्रिया, सिद्धि

भावार्थ/विशेषार्थ

विनयोपचार, मानभंग, गुरुपूजा, जिनाज्ञा-पालन, श्रुतधर्म की आराधना एवं अक्रिया, ये छह गुण गुरुवंदन से प्राप्त होते हैं।।27।।

(1) **विनयोपचार**- जो आराधना का आधार है, वह विनय। विनय अर्थात् नम्रता, लघुता। उपचार अर्थात् आलम्बन, उपाय। जो आत्म-साधना का सदुपाय है, वह विनय गुण वंदन से प्रकट होता है।

(2) **मानभंग** - अभिमान संसार का कारण है और विनय मुक्ति का मार्ग। वंदन से अभिमान टूटता है। विनय की क्षमता विकसित होती है। मान के साथ क्रोध, माया, लोभ आदि दुर्गुणों का भी क्षय होता है।

(3) **गुरु पूजा** - भाव पूजा का श्रेष्ठतम उपाय वन्दन है। वंदन-नमन से गुरु का पूजन, सत्कार एवं सम्मान होता है।

(4) **आज्ञा की आराधना** - तीर्थंकरों ने गुणीजनों एवं गुरुजनों की वंदना का आदेश-निर्देश जो दिया है, वह गुरुवंदन के द्वारा सम्पन्न होता है।

(5) **श्रुतधर्म की साधना** - वंदन करने वाले विनीत को ही श्रुतज्ञान सीखने का अवसर मिलता है। उस पर गुरुकृपा का अमृत हमेशा बरसता है।

(6) **अक्रिया** - मन, वचन और काया की प्रवृत्ति क्रिया है। इन तीनों से मुक्त होना अक्रिया है। इसे निर्वाण और सिद्धि भी कहा जाता है।

वन्दन से विनय, विनय से धर्म श्रवण, धर्म श्रवण से ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से संवर, संवर से निर्जरा, निर्जरा से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धगति की प्राप्ति होती है।

☯ वंदन अभाव में छह दोष-

धर्म संग्रह वृत्ति में वंदन नहीं करने से लगने वाले छह दोष बताये गये हैं- **माणो अविणय खिंसा नीयागोयं अबोहि भव-वुड्ढि अनमंते छद्दोसा...।**

अभिमान, अविनय, लोकनिंदा, नीच गोत्र का बंध, मिथ्यात्व-अबोधि और संसार-वर्धन, ये छह दोष गुरुजनों को नमस्कार नहीं करने से उत्पन्न होते हैं।

•••

पन्द्रहवाँ द्वार
गुरु की स्थापना

गाथा

गुरु गुणजुत्तं तु गुरुं, ठाविज्जा अहव तत्थ अक्खाई।
अहवा नाणाइ तियं, ठविज्ज सक्खं गुरु अभावे।।28।।

शब्दार्थ

गुरु गुणजुत्तं	- गुरु के गुणों से युक्त	नाणाइ	- ज्ञान-दर्शन-चारित्र
तु गुरुं	- गुरु की	तियं	- इन तीनों के उपकरण
ठाविज्जा	- स्थापना - योग्य		
अहव	- अथवा	ठविज्ज	- स्थापनीय
तत्थ	- वहाँ	सक्खं	- साक्षात्
अक्खाई	- अक्ष आदि	गुरु अभावे	- गुरु के अभाव में
अहवा	- अथवा		

भावार्थ

साक्षात् गुरु का अभाव हो तो गुरु-गुणों से युक्त उनकी मूर्ति रूप सद्भूत स्थापना करनी चाहिये। यदि शक्य न हो तो अक्ष आदि अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण रूप असद्भूत स्थापना करनी चाहिये।।28।।

स्थापना के प्रकार, काल आदि

गाथा

अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे अ चित्तकम्मे अ।
सब्भावमसब्भावं, गुरुठवणा इत्तरावकहा।।29।।

शब्दार्थ

अक्खे	- अक्ष में	चित्तकम्मे	- चित्रकर्म में
वराडए	- वराटक में	सब्भावं	- सद्भाव
वा	- अथवा	असब्भावं	- असद्भाव
कट्ठे	- काष्ठ में	गुरु ठवणा	- गुरु की स्थापना
पुट्ठे	- पुस्तक में	इत्तर	- अल्पकाल की
अ	- और	आवकहा	- यावत्कथित, सर्वदा

भावार्थ

अक्ष, वराटक-कोडा, काष्ठ, पुस्तक, चित्र आदि में गुरु की दो प्रकार की स्थापना होती है- सद्भाव और असद्भाव। यह भी इतर और यावत्कथिक के रूप में दो प्रकार की होती है।।29।।

विशेषार्थ

साक्षात् प्राणवंत उपकारवंत गुरुजनों का सानिध्य जीवन का अमृतमय सौभाग्य है। सदा सुहागन रहना तो लौकिक सद्भाग्य है, पर गुरु की सदैव साक्षात् कृपा पाना अलौकिक सौभाग्य है।

गुरु का अभाव हो तो उनकी किसी अन्य पदार्थ में उनकी स्थापना करके आराधना करनी चाहिये।

किसी वस्तु, चित्र, मूर्ति, आकृति आदि किसी का आरोपण करना स्थापना निक्षेप है। जैसे प्रभु-मूर्ति में प्रभु का एवं गुरु मूर्ति में गुरु का निक्षेप करना।

दो प्रकार की स्थापनाओं का वर्णन स्थापना निक्षेप के अन्तर्गत प्राप्त होता है- 1. सद्भाव स्थापना 2. असद्भाव स्थापना। इन्हें सद्भूत एवं असद्भूत स्थापना भी कहा जाता है।

(1) **सद्भाव स्थापना** - गुरु-प्रतिमा में 36 गुणों से युक्त गुरु की स्थापना करना सद्भूत स्थापना है। हुबहु चित्र, आकृति, मूर्ति में की जाने वाली सद्भाव स्थापना है।

(2) **असद्भाव स्थापना** - गुरु के अभाव में जब गुरु की स्थापना उनके आकार से अलग आकार में हो तो असद्भूत स्थापना कहलाती है। अक्ष आदि में एवं ज्ञान आदि रत्नत्रय के उपकरणों में गुरु की स्थापना असद्भाव स्थापना है।

इनके उदाहरण इस प्रकार हैं -

1. अक्ष अर्थात् आयरिया। यह शंख नामक द्वीन्द्रिय जीवों का अचित्त शरीर है, परन्तु शुभ एवं श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त होने से तपागच्छ आदि परम्पराओं अक्ष की गुरु के रूप में असद्भाव स्थापना की जाती है।

2. वराटक (कोडा) की गुरु के रूप में स्थापना करने की परम्परा वर्तमान में कहीं भी दिखाई नहीं देती।

3. खरतरगच्छ की परम्परा में चन्दन की लकड़ी को स्थापनाचार्य के रूप में स्थापित किया जाता है। उसमें पंच परमेष्ठि स्वरूप असद्भाव आकृति होती है।

जैसे चंदन सुगंधित होता है, वैसे ही गुरु में भी चारित्र की सुगंध होती है। जैसे चंदन शीतल होता है, वैसे ही गुरु भी शमगुण से शीतल होते हैं।

3. चन्दन की लकड़ी की गुरु-सदृश प्रतिमा बनाकर विधिपूर्वक स्थापना करना सद्भाव स्थापना है।

4. चारित्र के उपकरण धर्मदण्ड आदि असद्भाव स्थापना रूप है।

5. पुस्त के दो अर्थ होते हैं।

☯ **प्रथमार्थ** - लेप्य कर्म। रंगों से गुरु को पहचानना।

☯ **द्वितीयार्थ** - पुस्तक। शास्त्र की गुरु के रूप में स्थापना करना।

6. चित्रकर्म अर्थात् चित्रकारी। गुरु के चित्र (तस्वीर) में गुरु की स्थापना करना।

जिज्ञासा - स्थापना कितने प्रकार से हो सकती है ?

समाधान - अनुयोगद्वार में दस प्रकार की स्थापना वर्णित है। काष्ठ, चित्र, पुस्तक, लेपकर्म, गुंथन, वेष्टन, कोडा, पाषाण, अक्ष, चंदन, गुरु की मूर्ति आदि में स्थापना करने का निर्देश ठाणांग व अनुयोग द्वार सूत्र में मिलता है।

काल की अपेक्षा से स्थापना दो प्रकार की है-

1. **इत्वरकथिक** - गुरुवंदन, सामायिक आदि के काल तक ही पुस्तक, चित्र, दण्ड़, मूर्ति आदि में गुरु की स्थापना इत्वरकथिक स्थापना है।

2. **यावत्कथिक** - जब तक प्रतिमा, चित्र आदि खण्ड़ित या नष्ट न हो, तब तक उसमें गुरु की स्थापना करना यावत्कथिक स्थापना है।

जिज्ञासा - स्थापनाचार्यजी के सम्मुख देववंदन किया जा सकता है या नहीं?

समाधान - स्थापनाचार्यजी में आचार्य आदि गुरु के साथ भगवान स्वरुप अरिहंत व सिद्ध की भी स्थापना होती है, अत: उसके सम्मुख देववंदन किया जा सकता है।

जिज्ञासा - स्थापनाचार्य के सम्मुख क्रिया क्यों करें, जब प्रत्यक्ष रूप से गुरुदेव उपस्थित हो ?

समाधान - वस्तुत: स्थापनाचार्यजी का सानिध्य गुरु म. के लिये होता है और शेष मुनिवृंद आदि के लिए गुरु म. का सानिध्य होता है। 36 गुण धारक गुरु के अभाव में स्थापनाचार्यजी के सम्मुख प्रतिक्रमण, सामायिक आदि क्रियाएँ की जाती हैं। वर्तमान में प्राय: सारी क्रियाएँ स्थापनाचार्यजी के सम्मुख ही सम्पन्न की जाती हैं।

गुरु स्थापना से कार्य सिद्धि

गाथा

गुरु विरहम्मि ठवणा, गुरूवएसोवदंसणत्थं च।
जिणविरहम्मि जिणबिम्ब, सेवणामंतणं सहलं।।30।।

शब्दार्थ

गुरुविरहम्मि	- गुरु के अभाव में	जिणविरहम्मि	- तीर्थंकरों के विरह में
ठवणा	- गुरु की स्थापना	जिणबिम्ब	- जिनमूर्त्ति
गुरूवएस	- गुरु का उपदेश	सेवणा	- सेवा
उवदंसणत्थं	- दर्शाने के लिये	आमंतणं	- आमंत्रण
च	- और	सहलं	- सफल

भावार्थ

जिस प्रकार जिनेश्वर परमात्मा के विरह में उनकी प्रतिमा की सेवा एवं आमंत्रण सफल होते हैं, वैसे ही गुरु के विरह में उनके आदेश दर्शाने/समझने/स्वीकृति के लिये गुरु की स्थापना करने से धर्मक्रियाएँ सार्थक और सफल होती हैं।।30।।

विशेषार्थ

जब पुण्ययोग के अभाव में सशरीरी गुरु का सानिध्य न रहे, तब भी सारे धर्म-विधान गुरु की निश्रा में ही करने चाहिये। प्रश्न होता है कि ऐसा किस प्रकार संभव है तो चतुर्दश पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामी के कथन का अनुसरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिनेन्द्र परमात्मा के अभाव

में जैसे जिन प्रतिमा के सम्मुख कृत सारे धर्म-कर्म सफल और सार्थक होते हैं, वैसे ही प्रतिक्रमण, सामायिक आदि भी गुरु के सानिध्य में होने चाहिये ताकि वे सार्थक हो।

इसके लिये गुरु की स्थापना करके उनकी निश्रा में सारे धर्मकार्य उनके आदेश-निर्देश-आज्ञा से सम्पन्न होते हैं। आदेश आदि के निवेदन काल में यह मानना चाहिये कि गुरुवर आदेश-निर्देश, आज्ञा-संकेत, आलोचना, वाचना आदि दे रहे हैं।

यद्यपि प्रतिमा व स्थापनाचार्यजी जड़स्वरुप हैं, फिर भी इनका आलम्बन कर्मनिर्जरा में कारणभूत होता ही है। औषधि, दूध, शराब, दही, बन्दूक की गोली, विष, शस्त्र आदि जड़रुप होने पर भी जीवन-मरण, स्वास्थ्य-रोग में कारण बनते ही हैं। शब्द भी जड़ रुप हैं, तथापि जिनवाणी व गुरुवाणी के श्रवण से शुभ भाव उत्पन्न होते ही है।

इसी तरह काष्ठ आदि में गुरु व प्रभु की स्थापना से शुभभावों की उत्पत्ति में कोई भी आपत्ति नहीं है।

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दीप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति।।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति 8

जिस प्रकार एक दीपक स्वयं प्रकाशमान होता हुआ स्वयं के उज्ज्वल स्पर्श से दूसरे सैंकड़ों दीपकों को प्रकाशित करता है, वैसे ही आचार्य स्वयं ज्ञान-रश्मि से प्रकाशित होते हुए दूसरों को भी ज्ञान-ज्योति से ज्योतिर्मय बना देते हैं।

सोलहवाँ द्वार
अवग्रह का कथन

गाथा

चउदिसि गुरुग्गहो इह, अहुट्ठ तेरस करे सपरपक्खे।
अणणुन्नायस्स सया, न कप्पए तत्थ पविसेउं।।31।।

शब्दार्थ

चउदिसि	- चारों दिशाओं में	परपक्खे	- प्रतिपक्ष में
गुरुग्गहो	- गुरु का अवग्रह	अणणुन्नायस्स	- आज्ञा बिना वाले साधु को
इह	- यहाँ		
अहुट्ठ	- साढ़े तीन हाथ	सया	- सदा
तेरस	- तेरह	न कप्पए	- नहीं कल्पनीय
करे	- हाथ	तत्थ	- वहाँ
स (पक्खे)	- स्वपक्ष में	पविसेउं	- प्रवेश हेतु

भावार्थ

चारों दिशाओं में स्वपक्षीय गुरु-अवग्रह साढ़े तीन हाथ एवं परपक्षीय गुरु अवग्रह तेरह हाथ प्रमाण है। अवग्रह-प्रवेश की आज्ञा के बिना साधु आदि वहाँ प्रवेश अकल्पनीय है।।31।।

विशेषार्थ

स्वपक्ष और परपक्ष का प्रवेश भी शास्त्रीय विधिपूर्वक करने का कथन इस गाथा में है।

अवग्रह अर्थात् गुरु का सानिध्य।

स्वपक्ष रूप गुरु के प्रति शिष्य, साधु एवं श्रावक का एवं साध्वी के प्रति शिष्या, साध्वी एवं श्राविका का अवग्रह साढ़े तीन हाथ है। साढ़े तीन हाथ दूर से उनके साथ वंदन व्यवहार होता है। इसके अधिक निकट जाना हो तो गुरु का आदेश ग्रहण करना चाहिये।

परपक्ष रूप गुरु के प्रति साध्वी, श्राविका का एवं साध्वी के प्रति साधु एवं श्रावक का अवग्रह तेरह हाथ प्रमाण कहा गया है।

शील, सदाचार, विनय, विवेक, व्यवहार आदि का प्रवर्तन करने के लिये जिनेश्वरों ने मर्यादा की जो सीमाएँ तय की हैं, इनका पालन करना ही जिनाज्ञा की उपासना है और इसके पालन के परिणामस्वरुप ही परम पद की प्राप्ति होती है।

•••

जे आयरिय उवज्झायाणं, सस्सूणा वयणं करे।
तेसिं सिक्सा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा।।

दशवैकालिक सूत्र 9/2/12

जो शिष्य अपने आचार्य व उपाध्याय की सेवा-शुश्रूषा करता हुआ उनकी आज्ञा को यथोचित धारण करके पालन करता है, उसकी विद्या जलसिंचित वृक्ष की भाँति बढती जाती हैं।

सत्तरहवाँ-अठारहवाँ द्वार
वंदन-सूत्र के अक्षर व पद

गाथा

पण तिग बारस दुग तिग, चउरो छट्ठाण पण इगुणतीसं।
गुणतीस सेस आवस्सयाइ, सव्वपय अडवन्ना।।32।।

शब्दार्थ

पण तिग	- पाँच, तीन	गुणतीस	- उनतीस
बारस दुग	- बारह, दो	सेस	- शेष
तिग चउरो	- तीन, चार	आवस्सयाइ	- आवश्यक आदि
छट्ठाण	- छह स्थान	सव्वपय	- समस्त पद
पण	- पाँच	अड़वन्ना	- अट्ठावन
इगुणतीसं	- उनतीस		

भावार्थ

वंदन के छह स्थान जो अगली गाथा में वर्णित हैं, उसके छह स्थान के क्रमश: 5-3-12-2-3-4 पद योगरूपेण 29 हैं तथा शेष के 29 पद, इस प्रकार कुल 58 पद वंदन सूत्र के होते हैं।।32।।

विशेषार्थ

☯ अक्षर द्वार- वन्दन सूत्र जिसे वांदणा कहा जाता है, उस सूत्र में कुल 226 अक्षर हैं। 226 अक्षरों में से 201 लघु अक्षर हैं तथा 25 दीर्घाक्षर हैं।

च्छा, ज्जा, ग्ग, ज्जो, प्प, क्कं, त्ता, ज्जं, क्क, स्सि, क्क, त्ती, न्न, च्छा, क्क, क्क, क्क, व्व, व्व, च्छो, व्व, म्मा, क्क, क्क, प्पा, ये पच्चीस दीर्घाक्षर हैं। शेष 201 अक्षरों को लघु अक्षर जानना चाहिये।

☯ पद-द्वार- वंदन-सूत्र के कुल 58 पद कहे जाते हैं- 1. इच्छामि 2. खमासमणो 3. वंदिउं 4. जावणिज्जाए 5. निसीहियाए 6. अणुजाणह 7. मे 8. मिउग्गहं 9. निसीहि 10. अहो 11. कायं 12. काय 13. संफासं 14. खमणिज्जो 15. भे 16 किलामो 17 अप्पकिलंताणं 18. बहुसुभेण 19. भे 20. दिवसो 21. वइक्कंतो 22. जत्ता 23. भे 24. जवणिज्जं 25. च 26. भे 27. खामेमि 28. खमासमणो 29. देवसिअं वइक्कमं 30. आवस्सियाए 31. पडिक्कमामि 32. खमासमणाणं 33. देवसियाए 34. आसायणाए 35. तित्तीसन्नयराए 36. जं किंचि मिच्छाए 37. मणदुक्कडाए 38. वयदुक्कडाए 39. कायदुक्कडाए 40. कोहाए 41. माणाए 42. मायाए 43. लोभाए 44. सव्वकालियाए 45. सव्वमिच्छोवयाराए 46. सव्वधम्माइक्कमणाए 47. आसायणाए 48. जो 49. मे 50. अइआरो 51. कओ 52. तस्स 53. खमासमणो 54. पडिक्कमामि 55. निंदामि 56. गरिहामि 57. अप्पाणं 58. वोसिरामि।

•••

हियं तं मण्णई पण्णो,

वेस होइ असाहुणो।

उत्तराध्ययन सूत्र 1/28

प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन हितशिक्षाओं को आदर्श एवं ग्रहण योग्य मानता है, उन्हीं हितशिक्षाओं को एक अप्रज्ञावान शिष्य अनुचित, बुरा और अप्रिय मानता है।

उन्नीसवाँ द्वार
गुरु वंदन के छह स्थान

गाथा

इच्छा य अणुन्नवणा, अव्वाबाहं च जत्त जवणा य।
अवराहखामणावि अ, वंदणदायस्स छट्ठाणा।।33।।

शब्दार्थ

इच्छा	- इच्छा	अवराह	- अपराध
य अणुन्नवणा	- और अनुज्ञापना	खामणावि	- क्षमापना
अव्वाबाहं	- अव्याबाध	अ	- और
च जत्त	- और यात्रा	वंदणदायस्स	- वंदन देने वाले के
जवणा य	- और यापना	छट्ठाणा	- छह स्थान

भावार्थ

इच्छा, अनुज्ञापना, अव्याबाध, यात्रा, यापना और अपराध की क्षमापना, ये वन्दनकर्त्ता के छह स्थान हैं।।33।।

विशेषार्थ

प्रस्तुत द्वार में उन छह स्थानों का उल्लेख किया गया हैं, जिनके कारण वन्दना की जाती है।

(1) **इच्छा** - वन्दनकर्त्ता सर्वप्रथम वन्दन की अभिलाषा को व्यक्त करता है। **'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए'** ये पाँच पद बोलकर वंदना के भावों को गुरु के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

इन पाँच पदों में से चौथा-पाँचवाँ पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, आईये ! हम इन दोनों का विश्लेषण करें-

☯ **जावणिज्जाए** - इस पद का अर्थ होता है - यथाशक्ति। शक्ति के अनुसार वंदन होना चाहिये। शक्ति होने पर भी यदि वंदनकर्त्ता यथाविधि (आवश्यक सहित) वंदन नहीं करता है तो दोष लगता है।

☯ **निसीहिआए** - इस पद का अर्थ होता है - निषेधपूर्वक। वंदन की आराधना में जयणा और विवेक का प्रमुख स्थान है। वंदन स्थल का समुचित निरीक्षण, प्रमार्जन आदि के बाद वंदन करना कल्पनीय है। यदि अजयणा, प्रमाद आदि दोषों का निषेध न करे तो वंदन स्वरूप सुधारस विषमय बन जाता है।

(2) **आज्ञा** - गुरुवंदन के लिये गुरु के अवग्रह में प्रवेश करना होता है और उसके लिये उनकी आज्ञा को पाना जरूरी है। प्रथम इच्छा स्थान में वंदन की अभिलाषा व्यक्त की गयी, तदुपरान्त द्वितीय आज्ञा स्थान में **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'** तीन पदों के द्वारा वह प्रार्थना करता है कि हे गुरुदेव! आपके अवग्रह में प्रवेश हेतु आज्ञा प्रदान कीजिये।

(3-5) अव्याबाध, यात्रा और यापना का विशेषार्थ-

व्याबाध अर्थात् पीड़ा। यह दो प्रकार की हो सकती है- बाह्य और आभ्यन्तर। तलवार आदि के घात से होने वाली बाह्य बाधा है और मिथ्यात्व, कषाय आदि से होने वाली आभ्यन्तर बाधा है। इन्हें क्रमश: द्रव्य और भाव बाधा भी कहा जा सकता है। इन दोनों बाधाओं का अभाव अव्याबाध के अर्थ को प्रकट करता है।

☯ सुखपूर्वक संयम-क्रियाओं का प्रवर्तन यात्रा है।

☯ अनुकूल गोचरी, औषधि के द्वारा देह की समाधि एवं मन की समाधि को क्रमश: द्रव्य व भाव यापना कहते हैं।

(6) अपराध की क्षमापना के लिए भी वंदन किया जाता है।

बीसवाँ द्वार
छह गुरुवचन

गाथा

छंदेणणुजाणामि, तहत्ति , तुब्भंपि वट्टए एवं।
अहमवि खामेमि तुमं, वयणाइं वंदणारिहस्स।।34।।

शब्दार्थ

छंदेण	- इच्छा से	अहमवि	- मैं भी
णुजाणामि	- आज्ञा देता हूँ	खामेमि	- खमाता हूँ
तहत्ति	- वैसा ही है	तुमं	- तुमको
तुब्भंपि	- तुमको भी	वयणाइं	- छह वचन
वट्टए	- प्रवर्तित होता है	वंदणा	- वंदन
एवं	- इस प्रकार	रिहस्स	- योग्य गुरु के

भावार्थ

छंदेण, अणुजाणामि, तहत्ति, तुब्भंपि वट्टए, एवं और अहमवि खामेमि तुमं, ये गुरु द्वारा शिष्य को कहने योग्य छह स्थान हैं।।34।।

विशेषार्थ

शिष्य जब छह कारणों से वंदना करता है, तब गुरु भी वात्सल्य गुण की पुष्टि हेतु जो छह उत्तर देते हैं, वे गुरु के छह स्थान हैं।

(1) **छंदेण** - जब इच्छामि आदि पाँच पदों के द्वारा शिष्य वंदन

करने की इच्छा को व्यक्त करता है, तब गुरु '**छंदेण**' पद का प्रयोग करते हैं। छंद यानि इच्छा। जैसी तुम्हारी अनुकूलता और भावना। '**हाँ**' कहने में अभिमान और '**ना**' कहने में तिरस्कार प्रकट होता है। अत: '**छंदेण**' पद का उपयोग गुरु द्वारा किया जाता है।

विशेष कारण से उसी समय वंदन करवाने की अनुकूलता न हो तो '**पडिक्खह**' पद का प्रयोग करके गुरु कहते हैं कि प्रतीक्षस्व अर्थात् प्रतीक्षा करो।

ऐसी स्थिति में साधु प्रतीक्षा करें। यदि शक्य न हो तो इच्छकार-अब्भुट्ठियो से अथवा इच्छामि खमासमणो सूत्र से लघु वंदन करें। इतनी भी अनुकूलता गुरुदेव को न हो 'मत्थएण वंदामि' कहे। यह शिष्टाचार साधुता का पहला सोपान है।

(2) **अणुजाणामि** - गुरुवंदन के दौरान शिष्य जब **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'** इन तीन पदों के द्वारा गुरु के अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा मांगता है, तब गुरु आज्ञा प्रदान स्वरूप **'अणुजाणामि'** का उत्तर देते हैं। यह गुरु का दूसरा वचन है।

(3) **तहत्ति** - वंदन के तृतीय स्थान स्वरूप '**निसीहि अहो कायं काय...** से **दिवसो वइक्कंतो**' इन बारह पदों के द्वारा शिष्य जब क्षमापनापूर्वक गुरु से पृच्छा करता है कि आपका आज का दिन सुख, समाधि, आत्मचिन्तन और संयम में बीता? तब गुरु प्रत्युत्तर में **'तहत्ति'** का प्रयोग करते हैं अर्थात् तथाऽस्ति ! हाँ ! ऐसा ही है। आज का दिन (रात्रि) शांतिपूर्वक व्यतीत हुई। यह गुरु का तीसरा वचन है।

(4) **तुब्भंपि** - चतुर्थ स्थान में शिष्य जब **'जत्ता भे'** पदद्वय के द्वारा संयम यात्रा की निर्विघ्नता का प्रश्न करते हैं, तब गुरु भगवंत **'तुब्भंपि वट्टए'** का प्रयोग करके कहते हैं कि तुम्हारी भी संयम यात्रा निराबाध, निराकुल और निर्दोष रूप से प्रगतिशील होगी। यह गुरु का चौथा वचन है।

(5) **एवं** - यह गुरु का पाँचवां वचन है। जब शिष्य पंचम स्थान

में **'जवणिज्जं च भे'** तीन पदों के द्वारा पूछता है कि **'आपकी देह में सुख-समाधि है ?'** तब गुरु **'एवं'** वचन का प्रयोग करते हैं। 'एवं' के दो अर्थ किये जा सकते हैं -

1. **'एवं'** यानि इसी प्रकार, ऐसा ही है। देह व्याधि मुक्त और मन समाधि युक्त हैं

2. **'एवं'** यानि ऐसे ही तुम्हारी देह में भी शाता और समाधि होगी।

(6) **अहमवि खामेमि तुमं** - जब शिष्य **'खामेमि खमासमणो देवसियं** (राइयं) **वइक्कमं'** इन चार पदों से शिष्य दिन-रात्रि में हुए अपराधों की क्षमायाचना करता है, तब गुरु कहते हैं- **'अहमवि खामेमि तुमं'** मैं भी तुम्हें खमाता हूँ।

मेरे अनुशासन, शब्द या व्यवहार से तनिक भी ठेस पहुँची हो तो खमतखामणा का सद्व्यवहार दर्शाने वाला गुरु का यह छठवाँ वचन है।

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्स व बाहए।।

उत्तराध्ययन सूत्र 1/37

विनीत व ऋजुप्रज्ञ शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार भद्र-सरल अश्व की सवारी करता हुआ घुड़सवार प्रसन्न होता है।

वक्र, जड़ और मूढ शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार खिन्न होता है, जैसे अडियल-मरियल घोड़े की सवारी करता हुआ घुड़सवार खिन्न होता है।

इक्कीसवाँ द्वार

गुरु की 33 आशातनाएँ

गाथा

पुरओ पक्खासन्ने, गंताचिट्ठण निसीयणा-यमणे।
आलोअणऽपडिसुणणे, पुव्वालवणे य आलोए।।35।।
तह उवसंत निमंतण, खद्धायणे तहा अपडिसुणणे।
खद्धत्ति य तत्थगए, किं तुं तज्जाय नोसुमणे।।36।।
नो सरसि कहंछित्ता, परिसंभिता अणुट्ठियाइ कहे।
संथारपायघट्टण, चिट्ठुज्ज समासणे आवि।।37।।

शब्दार्थ (गाथा – 35)

पुरओ	- आगे	आयमणे	- आचमन
पक्ख	- साथ-साथ	आलोयण	- आलोचना
आसन्ने	- पीछे-पीछे	अपडिसुणणे	- अप्रतिश्रवण
गंता	- जाते हुए के	पुव्वालवणे	- पूर्वालापन
चिट्ठण	- खड़ा रहना	य	- और
निसीयण	- बैठना	आलोए	- पूर्व आलोचना

शब्दार्थ (गाथा –36)

तह	- इसी प्रकार	खद्धायणे	- खाद्य-दान
उवदंस	- पूर्वोपदर्शन	तहा	- तथा
निमंतण	- पूर्व निमंत्रण	अपडिसुणणे	- अप्रतिश्रवण

खद्धत्ति	- कर्कश वचन	तुं	- 'तूं' भाषण
य तत्थगए	- तत्रगत भाषण	तज्जाय	- तज्जात भाषण
किं	- 'किं' भाषण	नोसुमणे	- नोसुमन

शब्दार्थ (गाथा –37)

नो सरसि	- स्मरण नहीं	संथारपायघट्टण	- संस्तारक-पाँव-घट्टन
कहंछित्ता	- कथा-छेद	चिट्ठ	- संथारावस्थान
परिसंभित्ता	- परिषद भेद	उच्च	- उच्चासन
अणुट्ठियाइ	- अनुत्थित	समासणे	- समासन
कहे	- कथा	आवि	- वे भी

विशेषार्थ

उपरोक्त तीन गाथाओं में गुरु महाराज से सम्बन्धित 33 आशातनाओं का वर्णन किया गया है।

(1) **पुरोगमन**-पुर अर्थात् आगे, गमन अर्थात् जाना। बिना विशेष कारण के गुरु के आगे-आगे चलना पुरोगमन आशातना है। मार्ग-दर्शन आदि कारणों से आगे चलना दोषपूर्ण नहीं है पर अविवेक, अभिमान आदि कारणों से गुरु के आगे चलना दोषपूर्ण है।

(2) **पक्षगमन**- पक्ष अर्थात् निकट। गुरु महाराज के पास-पास चलना। बहुत नजदीक चलने से पाँव का स्पर्श आदि हो सकता है अथवा खांसी, छींक होने पर उन पर अपवित्र कण पड़ सकते हैं। इन आशातनाओं से बचने के लिये गुरु से सटकर नहीं चलना चाहिये।

(3) **पृष्ठ (आसन्न) गमन** - गुरु भगवंत के पीछे-पीछे पर सटकर, बहुत निकट चलना। इससे पाँव, कोहनी आदि का स्पर्श हो सकता है। यद्यपि गुरु के पीछे चलना तो शिष्य का धर्म है, पर यहाँ आसन्न शब्द अध्याहार से ग्रहण किया है अर्थात् पीछे पर बहुत सटकर चले तो वह भी आशातना है।

(4) **पुरस्थ** - पुर: अर्थात् आगे। स्थ - स्थित रहना। गुरु के आगे पीठ करके खड़े रहने से आशातना।

(5) **पक्षस्थ** - गुरु के बराबरी में अत्यन्त निकट खड़े रहने से आशातना।

(6) **पृष्ठ (आसन्न) स्थ** - पीछे पर बहुत ही निकट सटकर खड़े रहने से आशातना।

(7) **पुरोनिषीदन** - गुरु के आगे पीठ देकर बैठने से आशातना।

(8) **पक्ष निषीदन** - गुरु के बराबर बैठने से आशातना।

(9) **पृष्ठ (आसन्न) निषीदन** - पीछे सटकर बैठने से आशातना।

(10) **आचमन** - यदि शिष्य गुरु के साथ पंचमी समिति (लघु नीति-बड़ी नीति) गया है तो उनके पहले हाथ-पाँव की शुद्धि करता है तो आशातना। गोचरी में भी यदि गुरु से पहले मुख-शुद्धि करता है तो भी दोषपूर्ण है। ज्ञानादि की विशेष आराधना के कारण करें तो दोषपूर्ण नहीं।

(11) **आलोचना** - बाहर से साथ-साथ आने पर शिष्य यदि गुरु से पहले गमनागमन की आलोचना करता है, तो आशातना।

(12) **अप्रतिश्रवण** - रात्रि में गुरु द्वारा 'कौन जाग रहा है और कौन सो रहा है, ऐसा पूछा जाये, तब सुनने पर भी जागता हुआ शिष्य यदि प्रत्युत्तर नहीं देता है तो आशातना।

(13) **पूर्वालापन** - आलापन - बोलना। गृहस्थ आदि को गुरु के बुलाने से पहले शिष्य उन्हें बुलाता है तो आशातना।

(14) **पूर्वालोचन** - गोचरी लाने के बाद शिष्य द्वारा गुरु के समक्ष इरियावही आदि के द्वारा गमनागमन की आलोचना करने का नियम है, पर शिष्य यदि पहले अन्य साधु के समक्ष आलोचना करता है और बाद में गुरु के समक्ष, तो पूर्वालोचन दोष लगता है।

(15) **पूर्वोपदर्शन** - लायी हुई गोचरी को गुरु से पहले अन्य साधु को दिखाता है तो पूर्वोपदर्शन दोष।

(16) **पूर्व निमन्त्रण** - गोचरी वापरने हेतु गुरु से पहले अन्य साधुओं को निमन्त्रण देता है तो आशातना।

(17) **खद्धदान** - यदि आहार लाने के उपरान्त गुर्वाज्ञा के बिना ही अन्य साधुओं को स्निग्ध, मधुर और मनोज्ञ आहार परोसता है तो आशातना।

(18) **खद्धादन** - खद्ध - मधुर खाद्य, अदन - भोजन। गुरु को निरस, सामान्य आहार परोसकर बाद में स्वयं मधुर और दुर्लभ वस्तु लेता है तो खद्धादन दोष।

(19) **अप्रतिश्रवण** - दिन में गुरु द्वारा बुलाया जाये, तब सुनने पर भी जवाब नहीं देना अप्रतिश्रवण दोष है।

(20) **खद्ध भाषण** - गुरु के साथ कर्कश एवं कठोर भाषा का प्रयोग करना खद्धभाषण दोष है।

(21) **तत्रगत भाषण** - गुरु के बुलाने पर आसन से उठकर **'मत्थएण वंदामि'** बोलकर उनके सवाल का जवाब देना चाहिये, पर शिष्य द्वारा आसन पर बैठे-बैठे ही जवाब देना तत्रगत भाषण दोष है।

(22) **किं भाषण** - गुरु के बुलाने पर उनके उपपात में पहुँचकर नम्रतापूर्वक उनकी बात को सुनना चाहिये, पर ऐसा न करके शिष्य अगर कहे कि क्या है? क्या कहते हैं? क्यों बुलाते हो? तो किं भाषण दोष लगता है।

(23) **तूं भाषण** - गुरुदेव! पूज्यप्रवर! आपश्री आदि शिष्टाचार युक्त मधुर-कोमल-नम्र शब्दावली से गुरु को जवाब देना चाहिये। उन्हें तूं, तुमको, तुम्हारा, तुमसे आदि कहकर बुलाने से **'तूं भाषण'** दोष लगता है।

(24) **तज्जात भाषण** - जब गुरु शिष्य को कहे कि सेवा में प्रमाद नहीं करना चाहिये, तुमसे सेवा कम ही होती है, ग्लान, बाल, शैक्षक आदि की वैयावच्च से अप्रतिपाती फल प्राप्त होता है। तप से ही नंदीषेण आदि मुनि जगविख्यात हुए, अत: उनको कहना कि आप भी तो सेवा कर सकते हैं, उसमें छोटे-बड़े का क्या भेद ? हम तो फिर भी गौचरी आदि ले आते हैं, पर आप तो भक्तों के टोलों में ही उलझे रहते हो, ऐसे कड़वे,

अप्रिय और मर्मभेदी वचनों से गुरु को उलाहना देना और विपरीत जवाब देना तज्जात भाषण कहलाता है।

(25) **नो सुमन** - नो - नहीं, सुमन - सौम्य, गुणानुरागी मन। गुरु या रत्नाधिक सुन्दर धर्मोपदेश दे, तब न तो मन में प्रशंसा करना, न वचन से अभिनंदन करना, इसके विपरीत क्रोध, ईर्ष्या आदि से पीड़ित होना नो सुमन दोष कहलाता है।

(26) **नोस्मरण** - गुरुवर आदि जब धर्मकथा कर रहे हो, तब बीच में उसे भंग करते हुए कहना कि आपको यह अच्छी तरह याद नहीं है। इसका अर्थ ऐसा नहीं, अपितु ऐसा है। यह भी गुरु की आशातना है।

(27) **कथाछेद** - गुरु धर्मकथा कर रहे हो, तब सभाजनों को ऐसा कहना कि यह कथा मैं आपको व्याख्यान के बाद अच्छी तरह समझाऊंगा या उसी समय जब गुरुदेव कथा को समझा रहे हो, तब चलती हुई धर्मकथा में विक्षेप एवं व्याघात पैदा करना कथाछेद दोष है।

(28) **परिषद भेद** - जब गुरु भगवंत धर्मकथा कर रहे हो, जिनवाणी की मधुर गंगा बह रही हो, श्रोता धर्मरस में डूबकी लगा रहे हो, तब बीच में जाकर कहना कि आप क्या कर रहे हैं? अब और कितनी देर तक कथा का विस्तार करेंगे? गोचरी, उग्घाड़ा पोरिसी का काल हो गया है, ऐसे वचनों से गुरु की धर्मसभा को भंग करना भी उनकी आशातना है।

(29) **अनुत्थित कथा** - गुरु का प्रवचन पूर्ण हो गया हो, परन्तु श्रोता अभी तक उपस्थित हो, ऐसी स्थिति में प्रवचन सभा में जाकर गुरु प्रदत्त कथा या तत्त्व को विस्तृत रूप से बताना भी गुरु की आशातना है।

(30) **संथारपादघट्टन** - गुरु की भाँति उनके उपकरण भी पूजनीय एवं वंदनीय हैं। गुरु महाराज के संस्तारक को पाँव लगाना या बिना पूछे हाथ लगाना भी वर्ज्य है और ऐसी गलती हो जाने पर भी क्षमायाचना नहीं करना संथारापादघट्टन दोष है।

'संथारे' रूपी संकेत के साथ रजोहरण, मुँहपत्ति, चादर, चोलपट्टा, धर्मदण्ड, दण्ड़ासन, पात्र आदि को पाँव लगाना, इन उपकरणों का अनादर

करना, तोड़ना, फोड़ना, छिपाना आदि भी दोषपूर्ण है।

(31) **संथारावस्थान** - गुरु महाराज के संस्तारक (संथारे) पर खड़े रहना, शयन करना आदि क्रियाओं से भी गुरु की आशातना होती है।

(32) **उच्चासन** - गुरु महाराज से ऊँचे आसन पर बैठना उच्चासन दोष है।

(33) **समासन** - गुरु के आसन के समान ऊँचाई वाले आसन पर बैठना समासन दोष है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक दोष अध्याहार से और विवेक बुद्धि से समझ लेने चाहिये। जैसे-

1. गुरु किसी से वार्तालाप कर रह हो, तब बिना बुलाये बीच में बोलना। इसे अन्तरभासाए दोष कहते हैं।

2. पक्षपात आदि का आक्षेप लगाना।

3. उनके उपकरण आदि को बिना पूछे लेना।

4. मूल्यवान वस्तु खुद लेना और गुरु को मूल्यहीन वस्तु देना।

☯ गुरु की तीन आशातनाएँ

आशातना किसे कहते हैं ? यदि ऐसा प्रश्न कोई करे तो कहना पड़ेगा- जो शांति को भंग करे, विवेक को नष्ट करें, मर्यादा को विस्मृत करे, परस्पर समाधि, वात्सल्य और विनय के गुणों का विनाश करे, वह आशातना है।

आशातना त्रियोग से भी होती है और त्रिकरण से भी होती है। जमाली ने अरिहंत महावीर प्रभु की आशातना की, रेवती ने महाशतक श्रावक की आशातना की, बालचन्द्रमुनि ने कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य की आशातना की, कोणिक ने श्रेणिक की आशातना की, सीता ने पूर्वभव में साधु की आशातना की, साधुओं ने कुरगडु मुनि की आशातना की और सासु ने सुभद्रा सती की आशातना की।

आशातना जानकर भी हो सकती है और अनजाने में भी। मजबूरी

में भी और अविवेक एवं प्रतिशोध-विरोध से भी।

1. **जघन्य आशातना** - गुरु को पाँव आदि अशुभ अंग लगाना आदि।

2. **मध्यम आशातना** - थूंक वगैरह लगाना।

3. **उत्कृष्ट आशातना** - कठोर भाषण करना, आज्ञा भंग करना, आज्ञा के विपरीत चलना इत्यादि।

☯ गुरु स्वरूप स्थापनाचार्य की तीन आशातनाएँ

1. **जघन्य** - स्थापनाजी को पाँव लगाना, जैसे-तैसे रखना, हिलाना-डूलाना।

2. **मध्यम** - प्रतिलेखन न करना, जमीन पर गिराना आदि।

3. **उत्कृष्ट** - स्थापनाचार्य को तोड़ना, फोड़ना, विनाश करना आदि।

•••

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं।।21-1।।

ऋषिभाषित सूत्र

अज्ञान सबसे बड़ा दु:ख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है। समस्त प्राणियों के भव-भ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है।

सारांश- संसार-वन से मुक्ति के अभिलाषी सतत स्वाध्याय के द्वारा कर्मों का क्षय करना चाहिए।

बाईसवाँ द्वार
बृहद्गुरुवंदन
लघु राई प्रतिक्रमण विधि

गाथा

इरिया कुसुमिणुसग्गो, चिइवंदणपुत्ति वंदणालोयं।
वंदण खामण वंदण, संवर चउछोभ दु सज्झाओ।।38।।

शब्दार्थ

इरिया	- इरियावही	वंदन	- वांदणा
कुसुमिण	- कुस्वप्न	खामण	- खमतखामणा
उसग्गो	- कायोत्सर्ग	संवर	- प्रत्याख्यान
चिइवंदण	- चैत्यवन्दन	चउ	- चार
पुत्ति	- मुँहपत्ति	छोभ	- थोभ वंदन
वंदणा	- वांदणा	दु सज्झाओ	- दो स्वाध्याय आदेश
(आ) लोयं	- आलोचना		

विशेषार्थ

आवश्यक क्रिया स्वरूप प्रतिक्रमण श्रमण एवं श्रावक, दोनों के लिये दोनों समय अवश्यमेव करणीय है। प्रात: प्रतिक्रमण करने वाला श्रावक अनुकूलता के अभाव में यदि न कर पाये तो प्रस्तुत गाथा में वर्णित वृहत् गुरुवंदन अवश्यमेव करना चाहिये। इसे लघु प्रतिक्रमण भी कहा जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है-

1. **इरियावहियं** - गमनागमन की आलोचना स्वरूप इरियावही से लोगस्स पर्यन्त क्रिया करे।

2. **कुसुमिण दुसुमिण का कायोत्सर्ग**- इसके बाद कुसुमिण दुसुमिण की आलोचना का कायोत्सर्ग चार लोगस्स प्रमाण किया जाता है।

☯ **कुसुमिण** - कुस्वप्न (राग से सम्बन्धी)

☯ **दुसुमिण** - दुःस्वप्न (द्वेष से सम्बन्धी)

3. **चैत्यवंदन** - जयउ सामिय का चैत्यवंदन करना। तपागच्छ में जगचिंतामणि का चैत्यवंदन किया जाता है।

4. **मुँहपत्ति** - आदेशपूर्वक मुँहपत्ति प्रतिलेखन करना।

5. **वंदन** - उसके बाद दो वांदणा देना।

6. **आलोचना** - इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! राइयं आलोऊं ? आदेश के द्वारा आलोचना करना। इसे लघु प्रतिक्रमण सूत्र कहा जाता है।

7. **वंदण** - उसके बाद दो बार वांदणा देना।

8. **खामणा** - उसके बाद अब्भुट्ठिओ से अपराध की क्षमायाचना करना।

9. **वंदन** - तदुपरान्त दो बार वांदणा देना।

10. **संवर** - पापों की निर्जरा हेतु नवकारसी आदि का प्रत्याख्यान लेना।

11. **चार छोभ वंदन** - उसके बाद 4 खमासमण पूर्वक आचार्य जी, उपाध्याय, वर्तमान धर्माचार्य जी एवं सर्व साधु को वंदन करना। तपागच्छानुसार भगवान हं, आचार्य हं, उपाध्याय हं और साधु हं को चार खमासमणों से वन्दन करना।

12. **दो स्वाध्याय आदेश** - तत्पश्चात् दो खमासमणों के द्वारा क्रमशः इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सज्झाय संदिसाहुं ? और सज्झाय करूं ? ये दो आदेश ग्रहण करना।

लघु देवसिक प्रतिक्रमण विधि

गाथा

इरिया-चिइ-वंदण-पुत्ति-वंदण-चरिम-वंदणा-लोयं।
वंदण-खामण-चउछोभ-दिवसुस्सग्गो दुसज्झाओ।।39।।

शब्दार्थ

इरिया	- इरियावही	खामण	- खमतखामणा
चिइवंदण	- चैत्यवंदन	चउ	- चार
पुत्ति	- मुँहपत्ति	छोभ	- थोभ वंदन
वंदण	- वंदना	दिवसुस्सग्गो	- देवसियपायच्छित्तं कायोत्सर्ग
चरिम	- दिवस चरिम प्रत्याख्यान	दुसज्झाओ	- दो स्वाध्याय आदेश
आलोय	- आलोचना		

विशेषार्थ

संध्याकालीन प्रतिक्रमण करने वाला व्यक्ति कदाचित् न कर पाये तो वृहद्-गुरुवंदन अवश्यमेव करना चाहिये। इसे लघु प्रतिक्रमण भी कहा जाता है।

1. इरियावही करना 2. खमासमणपूर्वक चैत्यवंदन करना 3. आदेशपूर्वक मुँहपत्ति प्रतिलेखन करना 4. दो वांदणे देकर दिवस चरिम या पाणाहार का पच्चक्खाण करना 5. दो वांदणे देकर खमासमण पूर्वक इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोऊँ? इस आदेश के द्वारा दिवस सम्बन्धी पापों की आलोचना करना। 6 दो वांदणे देकर अब्भुट्ठियो से खमाना 7. चार थोभ करके देवसिय पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउसग्गं के द्वारा चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करना। 8. स्वाध्याय के दो आदेश लेकर स्वाध्याय करना।

गुरुवंदन का अचिन्त्य लाभ

गाथा

एयं किइकम्मविहिं, जुंजंता चरण करणमाउत्ता।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं।।40।।

शब्दार्थ

एयं	- इस प्रकार	आउत्ता	- उपयोग वाला साधु
किइकम्म	- कृतिकर्म (वंदन)	साहू	- साधु
विहिं	- विधि को	खवंति	- खपाता है
जुंजंता	- करने वाला	कम्मं	- कर्मों को
चरण	- चरण सित्तरि	अणेगभव	- अनेक भव के
करणं	- करण सित्तरि	संचिअमणंतं	- संचित अनन्त

भावार्थ

जो साधु पूर्वोक्त वंदन-विधि को श्रद्धापूर्वक करता है तो परिणाम स्वरूप वह चरणसित्तरि-करणसित्तरि के गुणों से सम्पन्न होकर अनेक भवों में संचित अनन्त कर्मों को इस भव में खपाता है और परम पद को प्राप्त करता है।

क्रिया कुशल होने पर भी यदि साधु गुरु का विनय, वन्दन आदि व्यवहार के द्वारा सम्पन्न नहीं करता तो उसकी मुक्ति संभव नहीं है। अत: गुरु के प्रति विनय मोक्ष-मंजिल का पहला सोपान है।

भाष्यकार की क्षमापना

गाथा

अप्पमइभव्वबोहत्थ, भासियं विवरियं च जमिह मए।
तं सोहंतु गियत्था, अणभिनिवेसी अमच्छरिणो।।41।।

शब्दार्थ

अप्पमइ	- अल्पमति	इह	- यहाँ
भव्व	- भव्य	मए	- मेरे द्वारा
बोहत्थ	- बोध पाने हेतु	तं	- उसको
भासियं	- कहा गया	सोहंतु	- शुद्ध करे
विवरियं	- विपरीत	गियत्था	- गीतार्थ
च	- और	अणभिनिवेसी	- आग्रह रहित
जं	- जो कुछ	अमच्छरिणो	- ईर्ष्या रहित

भावार्थ

अल्पमतिमान् जीवों के लिये ज्ञान-दान हेतु मेरे (देवेन्द्रसूरि) द्वारा यह भाष्य लिखा गया है, परन्तु इसमें कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध कहा हो तो आग्रहरहित एवं गुणानुरागी गीतार्थ मुनिवर शुद्ध करें। मेरी भूलचूक की विशुद्धि करें।।41।।

प्रस्तुत विवेचन के कर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरि महाराज कहते हैं कि आगमों में गुरु के संदर्भ में महान् गुण-गरिमा का विवेचन प्राप्त होता है परन्तु अल्प प्रज्ञावान् उनमें प्रवेश कर पाये, इसमें संदेह होने से इस लघुकायिक गुरुवंदन भाष्य की संरचना की गयी हैं। इसमें प्रवेश करके

भव्य, नम्र, शान्त, संयमी और विद्याप्रिय जिज्ञासु प्रभुता का वरण कर सकते हैं।

यह भी लेखक पूर्ववर्ती परम्परा है कि अज्ञातवश और छद्मस्थ अवस्था के कारण एक भी शब्द या अर्थ जिनवाणी के विपरीत लिखा जाये तो क्षमायाचना की गंगा में डुबकी लगाकर दोष का परिमार्जन कर लिया जाये।

हिन्दी विवेचक की प्रशस्ति

त्रिशलानन्दन वीर को, भावे नित्य नमन।
गौतम गणधर वन्दना, करते दोष शमन।।1।।
दुर्लभ राजा की सभा, सूरि जिनेश्वर जान।
'खरतर' बिरुद सुप्राप्त कर, पाया यश सम्मान।।2।।
खरतर का पावन गगन, चमके चन्द्र समान।
अभयदेव वल्लभ गुरु, दादा दत्त महान्।।3।।
मणिधारी जिनकुशल अरु, जिनप्रभ जग विख्यात।
चन्द्र तुल्य कोई नहीं, सौ बातों की बात।।4।।
वाचक मुनि अगणित हुए, शासन के सरताज।
देवचन्द्र सुसमय गुरु, आनन्दघन सुखकाज।।5।।
गणनायक सुखसागरा, हरि कान्ति सुपसाय।
मणि रज मनित सुवंदना, संयुत् मन वच काय।।6।।

•••

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्ज व उज्जुयं भणई।
तं तह आलोएज्जा, मायामय विप्पमुक्को उ।।

ओघ निर्युक्ति 802

बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सहज भाव से जैसे कह देता है, वैसे ही आत्म जिज्ञासु व मोक्षसाधक को भी गुरुजनों के सम्मुख दंभ व मान से मुक्त होकर अपनी यथार्थ आलोचना करनी चाहिये।

विपुल साहित्य सर्जक

मुनि श्री मनितप्रभासागरजी म.सा. द्वारा विवेचित-लिखित साहित्य

ऐतिहासिक जीवन साहित्य-

1. क्षमाश्रमण महावीर
2. गणधर गौतम स्वामी
3. महावैरागी जम्बू स्वामी

4-6. सत्य का अमिट सौन्दर्य, शील के अमिट शिलालेख, समय के अमिट हस्ताक्षर (16 सतियों की जीवन-गाथा)

7-10. प्रेरक कहानियाँ, रोचक कहानियाँ, प्रिय कहानियाँ, मधुर कहानियाँ

11. दस महाश्रावक

खरतरगच्छीय साहित्य-

12. साधना का ऐश्वर्य, चेतना का माधुर्य
13. दादावाड़ी दर्शनम्
14. खरतरगच्छ गौरव गाथा

तीर्थ साहित्य

15. श्री सिद्धाचल सौरभ

प्रश्नोत्तर साहित्य-

16-23. प्यासा कण्ठ मीठा पानी (आठ खण्ड/सैकड़ों विषय)

24. सौ पहेलियाँ

25-26. जैन जीवन शैली (हिन्दी-रंगीन एवं गुजराती - दो भाग)

तत्वज्ञान साहित्य-

27. जीव विचार प्रकरण
28. जीव विचार प्रश्नोत्तरी
29. दण्डक प्रकण विवेचन
30. प्रत्याख्यान भाष्य विवेचन
31. प्रत्याख्यान भाष्य प्रश्नोत्तरी
32. प्रथम कर्मग्रंथ विवेचन
33. प्रथम कर्मग्रंथ प्रश्नोत्तरी

शास्त्र साहित्य-

34-35. वीतराग स्तोत्र विवेचन

36. वैराग्य शतक भावार्थ

37-38. श्री शोभनमुनि स्तुति चतुर्विंशतिका विवेचन

श्रमण साहित्य

39. श्रमण चिन्तन
40. श्रमण आलोचना

चिन्तन

41. श्री गुरु गौतम समरिये
42. ताक रही निगाहें, परिवर्तन की राहें
43. सात रंग के सपने

44-45. विचार विरासत-विचार वैभव

46-47 जीएँ तो ऐसे जीएँ! आओ! तराशें जिन्दगी

विविध पॉकेट बुक (रंगीन)

48. मृत्यु बने जीवन का महोत्सव
49. मंत्र नवकार करे भवपार
50. अप्पा सो परमप्पा

51-52. अन्तर्नाद-अन्तर्यात्रा

53-59. क्षमापना सीरिज (अनुपलब्ध)

60. जैन धर्म में जल का विज्ञान

मैनेजमेंट सीरजि (हिन्दी-रंगीन)

61. लाइफ मैंनेजमेंट
62. माइण्ड मैंनेजमेंट
63. रीलिजन मैंनेजमेंट
64. बिहैवियर मैंनेजमेंट
65. फूड मैंनेजमेंट
66. मनी मैंनेजमेंट
67. इन्वार्यमेंट मैंनेजमेंट

ज्ञान वाटिका साहित्य-

68-75. बालकों के लिए आठ खण्डों में विभक्त रंगीन ज्ञान-वाटिका।

काव्य साहित्य -

76. काव्यामृतम्
77. करुणानिधान
78. संवेदना

श्रावक जीवन साहित्य-

79. श्रावकाचार : बारह व्रत विधि
80. भव आलोचना
81. जीवन का दर्पण,कर्त्तव्य का प्रतिबिम्ब
82. सामायिक
83. रात्रि भोजन त्यागे बढ़ते जाये आगे

शोध प्रबन्ध -

84-91. ''पंचलिंगी प्रकरण' का अष्टखण्डीय विवेचन।

न्याय दर्शन साहित्य-

92. तर्क संग्रह

प्रवचन साहित्य-

93-95. आत्मांजनम्, नेत्रांजनम्, हृदयांजनम्

संकलन संयोजन-

96. सिद्धाचल तारणहार रे
97. जय सिद्धाचल
98. मारा व्हाला प्रभु
99. जैन तत्वप्रभा
100. सुप्रभातम् (प्रथम भाग)
101. सुप्रभातम् (द्वितीय भाग)
102. श्रावक पौषध विधि
103. दो प्रतिक्रमण सूत्र (अंग्रेजी)
104. दादा गुरुदेव की पूजा व स्तवन
105. जैनत्वम्

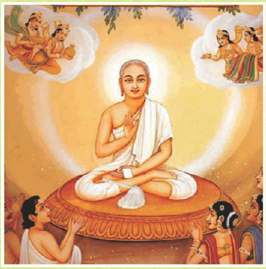

तस्मै श्री गुरवे नमः

तत्त्वज्ञान के प्रकाशक गुरु...!
मोहतिमिर के विनाशक गुरु...!
श्रद्धा के धरातल पर दीप गुरु...!
अपार भवसागर में द्वीप गुरु...!

बृहस्पति तो क्या, तीर्थंकर भी जिनकी महिमा पूर्णरूपेण प्रकट नहीं कर सकते, ऐसे पुण्य-पवित्र-पावन-जीवन के प्रकृष्ट निधान गुरु के संदर्भ में विविध रहस्यों को उद्घाटित करने वाला गुरुवंदन भाष्य प्रसिद्ध है।

यद्यपि गुरु की गरिमा गिरिवर से महान् एवं सागर से भी गहन है, फिर भी उसका विवेचन महर्षि मनीषियों विविध ने रंगबिरंगे आस्था के परिधान में सजकर शब्दों की माला में पिरोया है।

गुरु भगवंतों में सर्वोत्तम गुरु परमात्मा महावीर है, जिनको नंदीसूत्र में 'जगद्गुरु' के रूप में सम्बोधित किया है। उन्होंने जगदन्धकार को प्रदीप के रूप में दूर करके शांति की रश्मियों से धरातल को रोशन किया है।

इसी अनुक्रम में गौतम स्वामी का आभावलय इतना पुनीत है कि जीवनकाल में 50000 आत्माओं को कैवल्य का उपहार दिया तथा आज भी उनके नाम में लब्धि-शक्ति-मुक्ति का निवास है।

आचार्य श्री जिनदत्तसूरि आदि चारों दादा गुरुदेवों ने जन-जन में जैनत्व की अलख जगाकर गुरु-महिमा की माला में एक नया मोती पिरोया।

आईये ! हम सभी गुरु के चरणों में शीष रखकर आशीष का वरदान पायें।

- मुनि मनितप्रभसागर

गुरुवंदन भाष्य
(मूल-शब्दार्थ-भावार्थ-विवेचन सहित)
-मुनि मनितप्रभसागर

- तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर मो. 9314962474/75